सौ० सविताबाई कापड़िया स्मारक ग्रन्थमाला नं० [illegible]

॥ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥

संक्षिप्त जैन इतिहास ।

भाग ३-खण्ड १

दक्षिणभारतके जैनधर्मका इतिहास ।]

विभाग—

१. पौराणिक काल

२. ऐतिहासिक काल:-

१-प्राचीन काल (ई०पू० ९०००से १ ई०पू०)

२-मध्य काल (सन् १ से १४०० ई०)

३-अर्वाचीन काल (उपरान्त)

लेखक:—

कामताप्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस.

सम्पादक-वीर व जैन सि० भास्कर, अलीगंज (एटा)।

प्रकाशक:—

मूलचन्द किसनदास कापड़िया,

मालिक, दिगंबरजैनपुस्तकालय कापड़ियाभवन-सूरत।

स्वर्गीय सौ० सविताबाई, धर्मपत्नी, मूलचंद किसनदास कापड़ियाके स्मरणार्थ "दिगम्बर जैन" के १० वें वर्षके ग्राहकोंको भेट।

प्रथमावृत्ति] वीर सं० २४६३ [प्रति १०००

मूल्य—रु० १-०-०.

सौ० सविताबाई- -स्मारक ग्रंथमाला नं. ७

हमारी स्वर्गीय धर्मपत्नी सौ० **सविताबाई**का वीर सं० २४५६ भादों वदी १० को सिर्फ २२ वर्षकी अल्प आयुमें एक पुत्र चि० **बाबूभाई** और एक पुत्री चि० **दमयंती**को ४ और २ वर्षके छोडकर पीलियाके रोगसे स्वर्गवास होगया था, उनके स्मरणार्थ उस समय २६१२) का दान किया गया था। जिसमेंसे २०००) स्थायी शास्त्रदानके लिये निकाले थे, जिसकी आयसे प्रति वर्ष एक२ ग्रन्थ नवीन प्रकट करके 'दिगम्बर जैन' या 'जैन महिलादर्श' के ग्राहकोंको उपहारमें दिया जाता है।

आज तक इस ग्रंथमालासे निम्न लिखित ६ ग्रंथ प्रकट हो चुके हैं जो, जैन महिलादर्श या दिगम्बर जैनके ग्राहकोंको भेट दिये जाचुके हैं।

१-**ऐतिहासिक स्त्रियां**-(ब्र० पं० चंदाबाईजी कृत) ॥)

२-**संक्षिप्त जैन इतिहास**-(द्वि० भाग प्र० खण्ड) १॥)

३-**पंचरत्न**-(बा० कामताप्रसादजी कृत) ।=)

४-**संक्षिप्त जैन इतिहास**-(द्वि० भाग, द्वि० खण्ड) १=)

५-**वीर पाठावली**-(बा० कामताप्रसादजी कृत) ॥।)

६-**जैनत्व**-(रमणीक वी० शाह वकील कृत, गुजराती) ।=)

और यह ७वां ग्रन्थ संक्षिप्त जैन इतिहास तृतीय भाग—प्रथम खंड (बा० कामताप्रसादजी कृत) प्रकट किया जाता है जो 'दिगंबर जैन' पत्रके ३० वें वर्षके ग्राहकोंको भेट बांटा जा रहा है तथा जो 'दिगंबर जैन' के ग्राहक नहीं हैं उनके लिये कुछ प्रतियां विक्रयार्थ भी निकाली गई हैं। आशा है कि बहुत खोज व परिश्रमपूर्वक तैयार किये गये ऐसे ऐतिहासिक ग्रन्थोंका जैन समाजमें शीघ्र ही प्रचार होजायगा। इस ऐतिहासिक ग्रन्थके लेखक **बा० कामता-प्रसादजीका** दि० जैन समाजपर अनन्य उपकार है, जो वर्षोंसे अतीव श्रमपूर्वक प्राचीन जैन साहित्यको खोजपूर्वक प्रकाशमें लारहे हैं।

यदि जैन समाजके श्रीमान् शास्त्रदानका महत्व समझें तो ऐसी कई स्मारक ग्रन्थमालायें निकल सकती हैं और हजारों तो क्या लाखों ग्रन्थ भेट स्वरूप या लागत मूल्यसे प्रकट होसकते हैं, जिसके लिये सिर्फ दानकी दिशा ही बदलनेकी आवश्यक्ता है। अब द्रव्यका उपयोग मंदिरोंमें उपकरण आदि बनवानेमें या प्रभावना बंटवानेमें करनेकी आवश्यक्ता नहीं है लेकिन द्रव्यका उपयोग विद्यादान और शास्त्रदानमें ही करनेकी आवश्यक्ता है।

सूरत
वीर सं० २४६३
आश्विन वदी ३

निवेदक—
मूलचन्द किसनदास कापडिया,
प्रकाशक।

आभार।

"संक्षिप्त जैन इतिहास" के पहले दो भाग प्रगट होचुके हैं। आज उसका तीसरा भाग पाठकोंके हाथोंमें देते हुए हमें प्रसन्नता है। यह तीसरे भागका पहला खण्ड है और इसमें दक्षिण भारतके जैनधर्म और जैन संघका इतिहास-पौराणिककालसे प्रारंभिक ऐतिहासिक कालतकका संकलित है। सम्भव है कि विद्वान् पाठक पुराणगत वार्ताको इतिहास स्वीकार न करें, परन्तु उन्हें स्मरण होना चाहिये कि भारतीय शास्त्रकारोंने पुराण वार्ताको भी इतिहास घोषित किया है।

जबतक इस पुराण वार्ताके विरुद्ध कोई प्रबल प्रमाण उपलब्ध न हो तबतक उसे मान्य ठहराना हमारा कर्तव्य है। आखिर प्राक् ऐतिहासिक कालके इतिहासको जाननेके वही तो एक मात्र साधन हैं-उन्हें हम भुला कैसे दें? उनके एवं अन्य साक्षीके आधारसे हमने दक्षिणभारतमें जैनधर्मका अस्तित्व अतिप्राचीन सिद्ध किया है। आशा है, विद्वज्जन हमारे इस मतको स्वीकार करनेमें संकोच नहीं करेंगे।

इस अवसरपर हम इन पुराण और शास्त्रकारोंका आभार हृदयसे स्वीकार करते हैं। साथ ही अन्यान्य सम्माननीय लेखकोंके भी हम उपकृत हैं जिनकी रचनाओंसे हमने सहायता ग्रहण की है।

यहांपर हम अध्यक्ष, श्री जैनसिद्धांत भवन-आरा और सेठ मूलचन्द किसनदासजी कापड़ियाको भी नहीं भुला सके। उन्होंने आवश्यक साहित्य जुटाकर हमारे कार्यको सुगम बना दिया जिसके लिये वह हमारे हार्दिक धन्यवादके पात्र हैं। आशा है कि जबतक कोई इससे भी श्रेष्ठ जैन इतिहास न रचा जाय, तबतक यह पाठकोंकी आवश्यकताकी पूर्ति करेगा। एवमस्तु!

अलीगंज (एटा)
ता० १६-८-३७। } विनीत-कामताप्रसाद जैन।

समर्पण ।

जैन–साहित्य प्रकाशन

के

पुनीत कार्यमें

दत्त-चित्त,

विवेकी

मित्र

श्री. ए. एन. उपाध्ये महोदय

के

कर–कमलों

में

सादर

सप्रेम

समर्पित ।

—लेखक ।
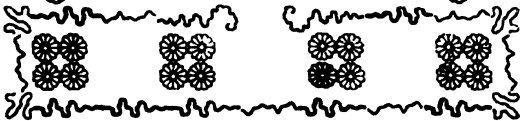
संक्षिप्त जैन इतिहास।

[लेखक–बाबू कामताप्रसादजी जैन।]

प्रथम भाग–यह ईस्वीसन् पूर्व ६०० वर्षसे पहिलेका इतिहास है। इसके ६ परिच्छेदोंमें जैन भूगोलमें भारतका स्थान, ऋषभदेव और कर्मभूमि, अन्य तीर्थंकर आदिका वर्णन है। थोड़ीसी प्रतियां बची हैं। मूल्य ॥≈)

दूसरा भागः प्रथम खण्ड–यह ईस्वी सन् पूर्व छठी शताब्दीसे सन् १३०० तकका प्रामाणिक जैन इतिहास है। इसे पढ़कर मालूम होगा कि पहले जमानेमें जैनोंने कैसी वीरता बतलाई थी। इसमें विद्वत्तापूर्ण प्राक्कथन, भ० महावीर, वीरसंघ और अन्य राजा, तत्कालीन सभ्यता और परिस्थिति, सिकन्दरका आक्रमण और तत्कालीन जैनसाधु, श्रुतकेवली, भद्रबाहु और अन्य आचार्य, तथा मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त आदिका १२ अध्यायोंमें विशद वर्णन है। पृष्ठ संख्या ३०० मू० १॥)

दूसरा भागः द्वितीय खंड–इसमें अनेक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक विषयोंका सप्रमाण कथन किया गया है। यथा–चौबीस तीर्थंकर, जैन धर्मकी विशेषता, दिगम्बर संघभेद, श्वे० की उत्पत्ति, उपजातियोंकी उत्पत्ति और इतिहास, उत्तरी भारतके राजा और जैनधर्म, ग्वालियरके राजा व जैनधर्म, मुनिधर्म, गृहस्थ धर्म, अजैनोंकी शुद्धि, जैन धर्मकी उपयोगिता आदि १२५ विषयोंका सुबोध और सप्रमाण कथन है। पृ० २०० मूल्य १≈)

मैनेजर, दिगम्बरजैनपुस्तकालय–सूरत।

विषयसूची।

संकेताक्षर सूची ।

प्रस्तुत ग्रन्थके संकलनमें निम्न ग्रन्थोंसे सहायता ग्रहण की गई है, जिनका उल्लेख निम्न संकेतरूपमें यथास्थान किया गया है—

अध०=अशोकके धर्मलेख–लेखक श्री० जनार्दन भट्ट एम० ए० (काशी, सं० १९८०) ।

अहिइ०='अर्ली हिस्ट्री आफ इन्डिया'–सर विंसेन्ट स्मिथ एम० ए० (चौथी आवृत्ति) ।

अशोक०='अशोक' ले० सर विन्सेन्ट स्मिथ एम० एम० ।

आक०='आराधना कथाकोष' ले० ब्र० नेमिदत्त (जैनमित्र आफिस, सूरत) ।

ऑजी०=आजीविक्स–भाग १ डॉ० बेनी माधव बाड़आ० डी० लिट् (कलकत्ता १९२०) ।

आसू०='आचाराङ्ग सूत्र' मूल (श्वेतांबर आगम ग्रंथ) ।

अहिइ०=ऑक्सफर्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया–विन्सेन्ट स्मिथ एम.ए. ।

अभंरिइं०=अनल्स ऑव भंडारकर रिसर्च इंस्टीटयूट, पूना ।

आइइं०=ऑरीजिनेल इन्हैबीटेन्ट्स ऑव इंडिया, ऑप्पर्ट सा० कृत (मद्रास) ।

आपु०=आदिपुराण, पं० लालाराम द्वारा संपादित (इंदौर) ।

इंऐ०=इन्डियन ऐन्टीक्वेरी (त्रैमासिक पत्रिका) ।

इरिई०=इन्सायक्लोपेडिया आफ रिलीजन एण्ड इथिक्स हेस्टिंग्स ।

इंसेजै०='इन्डियन सेक्ट ऑफ दी जैन्स' बुल्हर ।

इंहिक्वा०=इंडियन हिस्टोरीकल क्वार्टर्ली–सं० डॉ० नरेन्द्रनाथ लॉ–कलकत्ता ।

इका० अथवा एका०—इपीग्रेफिया कर्नाटिका (बंगलोर)।

इंए०=इंडियन एन्टीकेरी (बम्बई)।

उद०=‘उवासगदसाओ सुत्त०’-डॉ० हार्णले (Biblo Indica).

उपु०व०उ.पु.=‘उत्तरपुराण’ श्री गुणभद्राचार्य व पं.लालारामजी।

उसू०=‘उत्तराध्ययन सूत्र’ (श्वेताम्बरीय आगम ग्रन्थ) जार्ल कार्पेंटियर (उपसला)।

एइ०=‘एपिग्रेफिया इंडिका’।

एइमे० या मेएइ०=एन्शियेन्ट इन्डिया एजडिस्क्राइब्ड बाई ‘मेगस्थनीज एण्ड ऐरियन’—(१८७७)।

एइजै०=एन इपीटोम ऑफ जैनीज्म—श्री पूर्णचन्द्र नाहर एम०ए०।

एमिक्षट्रा०=‘ एन्शियेन्ट मिड इंडियन क्षत्रिय ट्राइब्स ’ डॉ० विमलचरण लॉ (कलकत्ता)।

एइ०=एन्शियेन्ट इंडिया एजडिस्क्राइब्ड बाई स्ट्रेबो मक क्रिडल (१८०१)।

ऐरि०=ऐशियाटिक रिसर्चेज—सर विलियम जोन्स (सन् १७९९ व १९०९)।

कजाइ०=कनिंघम, जागरफी ऑफ एंशियेन्ट इंडिया—(कलकत्त १९२४)।

कलि०=‘ ए हिस्ट्री ऑफ कनारीज लिट्रेचर ’ ई० पी० राइस (H. L. S. 1921).

कसू०=कल्पसूत्र मूल (श्वेतांबरी आगम ग्रन्थ)।

काले०=कारमाइकल लेक्चर्स डॉ० डी० आर० भाण्डारकार।

कैहिइ०=कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया ऐन्शियेन्ट इंडिया, भा० १—रैप्सन सा० (१९२२)।

करच० = करकण्डुचरिय, प्रो० हीरालाल द्वारा संपादित (कारंजा)।

कृऐइं० = कृष्णस्वामी ऐंगर कृत ऐन्शियेन्ट इंडिया (लंदन १९११)

गुसापरि० = गुजराती साहित्य परिषद् रिपोर्ट–सातवीं। (भाव-नगर सं० १९२२)।

गोबु० = 'गौतमबुद्ध' के० जे० सॉन्डर्स (H. L. S.)

गब० = गैज़ेटियर ऑव बम्बई, भाण्डारकर आदि कृत।

गमकु० = गैज़ेटियर ऑव मैसूर एण्ड कुर्ग।

चभम० = 'चन्द्रराज भण्डारी कृत भगवान महावीर'।

जबिओसो० = जनरल आफ दी बिहार एण्ड ओड़ीसा रिसर्च सोसाइटी'।

जम्बू० = जम्बूकुमार चरित्र (सुरत वीराब्द २४४०)।

जमीसो० = जर्नल ऑफ दी मीथिक सोसाइटी–बैंगलोर।

जराएसो० = जर्नल ऑफ दी रायल एसियाटिक सोसाइटी–लंदन।

जका० = 'जैन कानून' (श्री० चम्पतरायजी जैन विद्यावा० बिजनौर (१९२८)।

जग० = 'जैन गजट' अंग्रेजी (लखनऊ)।

जप्र० = जैनधर्म प्रकाश ब्र० शीतलप्रसादजी (बिजनौर १९२७)।

जैस्तू० = जैनस्तूप एण्ड अदर एण्टिक्वटीज ऑफ मथुरा–स्मिथ।

जसासं० = 'जैन साहित्य संशोधक' मु० जिनविजयजी (पूना)।

जैसिभा० = जैन सिद्धान्त भास्कर श्री पद्मराज जैन (कलकत्ता)।

जैशि सं० = 'जैन शिलालेख संग्रह'–प्रो० हीरालाल जैन (माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला।

जैहि० = जैन हितैषी सं० पं० नाथूरामजी व पं० जुगलकिशोरजी (बम्बई)।

जैसू० (Js.)=जैन सूत्राज (S. E. Series, Vols. XXII & XLV).

जम्बू०=जम्बूकुमार चरित (माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई)।

जसाइं०=प्रो० एस० आर० शर्मा कृत जैनीज्म इन साउथ इंडिया।

टॉरा०=टॉडसा० कृत राजस्थानका इतिहास वेंकटेश्वर प्रेस।

डिजैबा०='ए डिक्शनरी ऑफ जैन बायोग्रेफी' श्री उमरावसिंह टॉक (आरा)।

तक्ष०='ए गाइड टू तक्षशिला'-सर जॉन मार्शल (१९१८)।

तत्वार्थ०=तत्वार्थाधिगमसूत्र श्री उमास्वाति S. B. J. Vol. I

तिप०='तिलोय पण्णत्ति' श्री यति वृषभाचार्य (जैन हितैषी भा० १३ अंक १२)।

दिजै०='दि० जैन मासिक पत्र सं० श्री० मूलचन्द किसनदास कापड़िया (सूरत)।

दीनि=०'दीघनिकाय' (P. T. S.)

नाच०=नायकुमार चरिउ (माणिकचंद्र ग्रंथमाला, बम्बई)।

परि०=परिशिष्ट पर्व-श्री हेमचन्द्राचार्य।

प्राजैलेसं०=प्राचीन जैन लेख संग्रह कामताप्रसाद जैन (वर्धा)।

प्रसा०=प्रवचनसार, प्रो० ए० एन० उपाध्ये द्वारा संपादित बंबई।

बविओजैस्मा०=बंगाल, बिहार, ओडीसा जैन स्मारक-श्री० ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी (सूरत)।

बजैस्मा०=बंबई प्रांतके प्राचीन जैन स्मारक ब्र० शीतलप्रसादजी।

बुइं०=बुद्धिष्ट इंडिया प्रॉ० ह्रीस डेविड्स।

बुस्ट०=बुद्धिस्टिक स्टडीज, डॉ० विमलचरण लॉ द्वारा संपादित कलकत्ता।

भपा०=भगवान् पार्श्वनाथ—के० कामताप्रसाद जैन (सूरत) ।

भम०=भगवान महावीर— ,, ,, ,,

भमबु०=भगवान महावीर और म०बुद्ध कामताप्रसाद जैन (सूरत)

भमी०=भट्टारक मीमांसा (गुजराती) सूरत ।

भमअ०=भगवान महावीरकी अहिंसा (दिल्ली)

भाई०=भारतवर्षका इतिहास—डॉ० ईश्वरीप्रसाद डी० लिट् (प्रयाग १९२७) ।

भाअशो० अशोक—डॉ० भाण्डारकर (कलकत्ता) ।

भाप्रारा०=भारतके प्राचीन राजवंश श्री० विश्वेश्वरनाथ रेउ बंबई ।

भाप्रासइ०=भारतकी प्राचीन सभ्यताका इतिहास, सर रमेशचंद्र दत्त।

मजैइ०=मराठी जैन इतिहास ।

मनि०= } मज्झिमनिकाय P. T. S.
मज्झिम०= }

ममप्रजैस्मा०=मद्रासमैसूरके प्रा० जैनस्मारक ब्र०शीतलप्रसाद जी।

महा०=महावग्ग (S. B. E. Vol. XVII).

मिलिन्द०=मिलिन्द पन्ह (S. B. Vol. XXXV.)

मुरा०=मुद्राराक्षस नाटक-इन दी हिन्दू ड्रामेटिस वर्कस, विलसन ।

मूला०=मूलाचार वट्टकेर स्वामी (हिन्दी भाषा सहित बम्बई) ।

मेबु०=मैन्युल ऑफ बुद्धिज्म=(स्पेनहार्डी) ।

मअशो०=अशोक मैकफैल कृत (H. L. S.)

मारि०=माडर्नरिव्यू, सं० रामानंद चटर्जी (कलकत्ता) ।

मैकु०=मैसूर एण्ड कुर्ग फ्राम इंस्क्रिपशन्स—राइस (बंगलोर) ।

मैबु=मैन्युल ऑफ बुद्धिज्म—(स्पेनहार्डी)

मोद०=मोहेनजोदरो—सर जॉन मारशल (लन्दन) ।

रश्रा०=रत्नकरण्ड श्रावकाचार सं० पं० जुगलकिशोरजी (बम्बई)

राइ०=राजपूतानेका इतिहास भाग १-रा० ब० पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा।

रिइ०=रिलिजस ऑफ दी इम्पायर-(लन्दन)।

लाआम०=लाइफ ऑफ महावीर ला०माणिकचंदजी (इलाहाबाद)।

लाभाई०=भारतवर्षका इतिहास ला० लाजपतरायकृत (लाहौर)।

लाम०=लार्ड महावीर एण्ड अदर टीचर्स ऑफ हिज टाइम-कामताप्रसाद (दिल्ली)।

लावबु०=लाइफ एण्ड वर्क्स ऑफ बुद्ध घोष-डॉ० विमलाचरण लॉ (कलकत्ता)।

लाअने०=लार्ड अरिष्टनेमि, (दिल्ली)।

बृजैश०=बृहद् जैन शब्दार्णव-पं० बिहारीलाल चैतन्य।

विर०=विद्वद् रत्नमाला-पं० नाथूरामजी प्रेमी (बम्बई)।

विभा०=विशालभारत, सं० श्री बनारसीदास चतुर्वेदी कलकत्ता।

श्रव०=श्रवणबेलगोला, रा० ब० प्रो० नरसिंहाचार एम० ए० (मद्रास)।

श्रेच०=श्रेणिक चरित्र (सूरत)।

सआमिवॉ०=सर आशुतोष मेमोरियल वॉल्यूम (पटना)।

सकौ०=सम्यक्त्व कौमुदी (बम्बई)।

सजै०=सानतन जैन धर्म-अनु०=कामताप्रसाद (कलकत्ता)।

संजैइ०=संक्षिप्त जैन इतिहास प्रथम भाग कामताप्रसाद (सूरत)

सडिजै०=सम डिस्टिन्गुइश्ड जैन्स उमरावसिंह टांक (आगरा)।

संप्राजैस्मा०=संयुक्त प्रांतके प्राचीन जैन स्मारक-ब्र० शीतल।

सुसाइजै०=स्टडीज इन साउथ इंडियन जैनिज्म प्रो० रामस्वामी आयंगर।

ससू०=सम्राट् अकबर और सूरीश्वर—मुनि विद्याविजयजी (आगरा)

सक्षट्राएइ०=सम क्षत्री ट्राइब्स इन एन्शियन्ट इंडिया—डॉ० विमलचरण लॉ०।

साम्स०=साम्स आफ दी ब्रदरेन।

सुनि०=सुत्तनिपात (S. B. E.)।

साइंजै०=स्टडीज इन साउथ इंडियन जैनिज्म प्रो० रामास्वामी आयंगर।

हरि०=हरिवंशपुराण—श्री जिनसेनाचार्य (कलकत्ता)।

हॉजै०=हॉर्ट ऑफ जैनीज्म मिसेज स्टीवेन्सन (लन्दन)।

हिआइ०= } हिस्ट्री ऑफ दी आर्यन रूल इन इंडिया—हैवेल।
हिआरुइ=

हिग्ली०=हिस्टोरिकल ग्लीनिंगस—डॉ० विमलचरण लॉ।

हिटे०=हिन्दू टेल्स—जे० जे० मे‍ सं

हिड्राथ०=हिन्दू ड्रामेटिक वर्क्स विल्सन्।

हिप्रांइफि०=हिस्ट्री आफ दी प्री-बुद्धिस्टिक इंडियन फिलासफी बाडुआ (कलकत्ता)।

हिलिजै०=हिस्ट्री एण्ड लिट्रेचर ऑफ जैनीज्म—बारोदिया (१८०९)

हिवि०=हिन्दी विश्वकोष नागेन्द्रनाथ वसु (कलकत्ता)।

क्षत्रीक्लेन्स=क्षत्रीक्लेन्स इन बुद्धिष्ट इंडिया—डॉ० विमलाचरण लॉ।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः ।

संक्षिप्त जैन इतिहास ।

III

भाग तीसरा—खण्ड पहला ।

(अर्थात् दक्षिण भारतके जैनधर्मका इतिहास)

प्राक्कथन ।

जैनधर्म तात्विकरूपमें एक अनादि प्रवाह है, वह सत्य है, एक विज्ञान है। उसका प्राकृत इतिहास वस्तुस्वरूप है। वस्तु सादि नहीं अनादि है, कृत्रिम नहीं अकृत्रिम है, नाशवान नहीं चिरस्थायी है, कूटस्थ नित्य नहीं पर्यायोंका घटनाचक्र है। इसलिये विश्वके निर्मापक पदार्थोंका इतिहास ही जैनधर्मका इतिहास है। और विश्वके निर्मापक पदार्थ तत्ववेत्ताओंने जीव और अजीव बताये हैं। चेतन पदार्थ यदि न हो तो विश्व अँधकारमय होजाय। उसे जाने और समझे कौन? और यदि अचेतन पदार्थ न हो तो इस संसारमें जीव रहे किसके आश्रय? प्रत्यक्ष हमें विश्व और उसके अस्तित्वका ज्ञान है। वह है और अपने अस्तित्वसे जीव और अजीवकी स्थिति सिद्ध कर रहा है। परन्तु यह जीव और अजीव आये कहांसे? यदि इन्हें किसी नियत समयपर किसी व्यक्ति—विशेष द्वारा बना हुआ कहा जाय तो यह अखण्ड और अकृत्रिम या अनादि नहीं रहते।

खण्डोंके बने हुये होनेके कारण इन्हें नाशवान भी मानना पड़ेगा। पर अनुभव ऐसा नहीं है। चेतन कभी मरता नहीं देखा गया और न उसका ज्ञान टुकड़ोंमें बटा हुआ अनेकरूप अनुभवमें आया। इसलिये वह अजन्मा है। संसारमें वह अनादिसे अजीवके संसर्गमें पड़ा हुआ संसरण कर रहा है। जीव—अजीवका यह सनातन प्रवाह अनन्तका इतिहास है। उसका प्रत्यक्ष अनुभव पूर्ण ज्ञानी बननेपर होता है। जैन सिद्धान्त ग्रंथोंमें उसका रूपरङ्ग और उपाय वर्णित है। जिज्ञासुगण उनसे अपनी मनस्तुष्टि कर सकते हैं।

किन्तु धर्म अथवा वस्तुस्वरूपके इस सनातन प्रवाहमें उसका वर्तमान इतिहास जान लेना उपादेय है। वर्तमानमें उसका निरूपण कैसे हुआ? उसकी समवृद्धि कैसे हुई? किन किन लोगोंने उसे कैसे अपनाया? उसके यथार्थ रूपमें घठने कैसे लगे? और उनसे उसके कौन२से विकृत—रूप हुये? उन विकृत रूपोंके कारण मूल धर्मका कैसा ह्रास हुआ? इत्यादि प्रश्न हैं जिनका उत्तर पाये विना मनुष्य अपने जीवनको सफल बनानेमें सिद्ध—मनोरथ नहीं हो सकता। इसीलिये मनुष्यके लिये इतिहास—शास्त्रके ज्ञानकी आवश्यक्ता है। वह मनुष्यके नैतिक उत्थान और पतनका प्रतिबिम्ब है। धर्म और अधर्म, पुण्य और पापके रङ्गमंचका चित्रपट है। उसका बाह्यरूप राज्योंके उत्कर्ष और अपकर्ष, योद्धाओंकी जय और पराजयका द्योतक है; परन्तु यह सब कुछ पुण्य पापका खेल ही है। इसलिये इतिहास वह विज्ञान है जो मनुष्यजीवनको सफल बनानेके लिये नैतिक शिक्षा खुली पुस्तककी तरह प्रदान करता है। वह

मनुष्यमें विवेक, उत्साह और शौर्यको जागृत कर उसे विजयी वीर बनाता है, इसीलिये उसकी आवश्यक्ता है।

जैन धर्मका इतिहास उसके अनुयायियोंकी जीवन गाथा है; क्योंकि धर्म स्वयं पङ्गु है–वह धर्मात्माओंके आश्रय है। इस बातको लक्ष्य करके पहले जैन इतिहासके तीन खंड लिखे जा चुके हैं। उनके पाठसे पाठकगण जान गये हैं कि धर्मका प्रतिपादन इस कालमें सर्व प्रथम कर्मयुगके आरम्भमें भगवान ऋषभदेव द्वारा हुआ था।

भगवान ऋषभदेवके पहले यहां भोगभूमि थी। यहांके प्राणियोंको जीवन निर्वाहके लिये किसी प्रकारका परिश्रम नहीं करना होता था। उनका जीवन इतना सरल था कि वह प्राकृतरूपमें ही अपनी आवश्यक्ताओंकी पूर्ति कर लेते थे। जैन शास्त्र कहते हैं कि 'कल्पवृक्षों' से उन लोगोंको मनचाहे पदार्थ मिल जाते थे। वह मनमाने भोग भोगते और जीवनका मजा लूटते थे। किन्तु जमाना हमेशा एकसा नहीं रहता। वह दिन बीत गये जब यहां ही स्वर्ग था। लोग उतने पुण्यशाली जन्मे ही नहीं कि स्वर्ग-सुखके अधिकारी इस नरधाममें ही होते। जैन शास्त्र बताते हैं कि जब एक रोज कल्पवृक्ष नष्ट हो चले, लोगोंको पेटका सवाल हल करनेके लिये बुद्धि और बलका उपयोग करना आवश्यक होगया, परन्तु वे जानते तो थे ही नहीं कि उनका उपयोग कैसे करें? वे अपनेमें मेधावी पुरुषोंको खोजने लगे, उन्होंने उनको कुलकर या मनु कहा।

इन कुलकरोंने, जो कुल चौदह थे, लोगोंको जीवननिर्वाह

करनेकी प्रारम्भिक शिक्षा दी ।[१] बारहवें कुलकरका नाम मरुदेव था । उन्होंने नाविक शिक्षाके साथ २ लोगोंको दाम्पत्यजीवनका महत्व हृदयङ्गम कराया ।[२] उन्हींके समयसे कहना चाहिये कि कर्मशील नर-नारियोंने घरगिरस्ती बनाकर रहना सीखा । शायद यही कारण है कि वैदिक साहित्यमें भारतके आदि निवासी 'मुरुदेव' भी कहे गये हैं । अंतिम कुलकर नाभिराय थे जिनकी रानी मरुदेवी थीं । इन्हीं दम्पतिके सुपुत्र भगवान ऋषभदेव थे ।

भगवान ऋषभदेवने ही लोगोंको ठीकसे सभ्य जीवन व्यतीत करना सिखाया था । उनके पूर्वोपार्जित शुभ कर्मोंका ही यह सुफल था कि स्वयं इन्द्रने आकर उनके सभ्यता और संस्कृतिके प्रसारमें सहयोग प्रदान किया था । कुटुंबोंको उनकी कार्यक्षमताके अनुसार उन्होंने तीन वर्गोंमें विभक्त कर दिया था, जो क्षत्री, वैश्य और शूद्रवर्ण कहलाते थे । जब धर्मतीर्थकी स्थापना होचुकी तब ज्ञानप्रसारके लिये ब्राह्मणवर्ग भी स्थापित हुआ । इसतरह कुल चार वर्णोंमें समाज विभक्त करदी गई; किन्तु उसका यह विभाजन मात्र राष्ट्रीय सुविधा और उत्थानके लिये था । उसका आधार कोई मौलिक भेद न था । उस समय तो सब ही मनुष्य एक जैसे थे । नैतिक व अन्य शिक्षा मिलनेपर जैसी जिसमें योग्यता और क्षमता-दृष्टि पड़ी वैसा ही उसका वर्ण स्थापित कर दिया गया; यद्यपि सामाजिक सम्बन्ध—विवाह शादी करनेके लिये सब स्वाधीन थे । दक्षिण भारतमें भी इस व्यवस्थाका प्रचार था, क्योंकि वहांके साहि-

१—आपु० पर्व ३ व १२ । २—संजैइ० १।२१ ।

स्यसे भी इन्हीं चार वर्णोंका पता चलता है और इनके जीवननिर्वाहके लिये ठीक वही आजीविकाके छह उपाय बताये गये हैं जो उत्तर भारतमें मिलते हैं ।[1]

जैन शास्त्रोंमें उत्तर और दक्षिण भारतके मनुष्योंमें कोई भेद नजर नहीं पड़ता । इससे मालूम होता है कि उनमें उस समयका वर्णन है, जब कि सारे भारतमें एक ही सभ्यता और संस्कृति थी। उस समय वैदिक आर्योंका उनको पता नहीं था । प्राचीन शोध भी हमें इसी दिशाकी ओर लेजाती है । हरप्पा और मोहनजोदरोकी ईस्वीसे पांचहजार वर्षों पहलेकी सभ्यता और संस्कृति वैदिक धर्मानुयायी आर्योंकी नहीं थी, यद्यपि उसका सादृश्य और साम्य द्राविड़ सभ्यता और संस्कृतिसे था, यह आज विद्वानोंके निकट एक मान्य विषय है ।[2] साथ ही यह भी प्रकट है कि एक समय द्राविड़ सभ्यता उत्तर भारत तक विस्तृत थी । सारांशत: यह कहा जासक्ता है कि वैदिक आर्योंके पहले सारे भारतवर्षमें एक ही सभ्यता और संस्कृतिको माननेवाले लोग रहते थे । यही वजह है कि जैनशास्त्रोंमें उत्तर और दक्षिणके भारतीयोंमें कोई भेद दृष्टि नहीं पड़ता !

१–'थोलकाप्पियम्' जैसे प्राचीन ग्रंथसे यही प्रगट है । वर्णोंके नाम (१) अरसर अर्थात् क्षत्री, (२) अनयेनर अर्थात् ब्राह्मण, (३) वणिकर, (४) विल्लाकर (कृषक) क्षत्रीवर्ण जैन ग्रन्थोंकी भांति पहले गिना गया है । २–माडर्न, मोद० भा० १ पृ० १०९–१११ "a comparison of the Indus and Vedic Cultures shows in contestably that they were unrelated." (p. 110).

किन्तु प्रश्न यह है कि वैदिक आर्योंसे पहले जो लोग भारतमें रहते थे वह कौन थे ? यदि हम मेजर जेनरल फरलॉंग सा० के अभिमतको मान्य ठहरायें तो इस प्रश्नका उत्तर यह होगा कि वे द्राविड़ और जैनी थे। और सब ही मरुदेव या नाभिराय कुलकरकी सन्तान थे।[1] उनकी एक सभ्यता थी, एक संस्कृति थी और एक धर्म था, जैसा कि कुलकरों और आदिब्रह्मा ऋषभदेवने निर-धारित किया था। परन्तु इस प्रश्नपर जरा अधिक गहरा विचार वाञ्छनीय है—मनस्तुष्टि गंभीर गवेषणासे भली होती है।

निस्सन्देह यह स्पष्ट है कि भारतके आदि निवासी वैदिक सभ्यताके आर्य नहीं थे। उनके अतिरिक्त भारतमें दो प्रकारके मनुष्योंके रहनेका पता चलता है। उनमेंसे एक सभ्य थे और दूसरे बिल्कुल असभ्य थे। पहले लोगोंका प्राचीन साहित्यमें नाग, असुर, द्राविड़ आदि नामोंसे उल्लेख हुआ मिलता है और दूसरे प्रकारके असभ्य लोग 'दास' कहे गये हैं।[2] किन्हीं लोगोंका अनुमान है कि इन्हीं 'दास' लोगोंमेंसे शूद्र वर्णके लोग थे। सभ्य लोग

१. फरलांग सा० लिखते हैं कि "अनुमानतः ई० पूर्व १५००से ८०० बल्कि अगणित समयसे पश्चिमीय तथा उत्तरीय भारत तूरानी या द्राविड़ों द्वारा शासित था।....उसी समय उत्तरीय भारतमें एक पुराना, सभ्य, सैद्धान्तिक और विशेषतः साधुओंका धर्म अर्थात् जैन धर्म भी विद्यमान था। इसी धर्मसे ब्राह्मण और बौद्ध धर्मोंके सन्यास शास्त्रोंने विकास पाया।"–Short studies in the Science of Comparative Religions, (pp. 243-4)

२. भाइं, पू० भू० ३ व १-६४

मुख्यतया असुर नामसे ही विख्यात थे। अब जरी देखिये, वैदिक साहित्यमें इन असुर लोगोंकी यह खास विशेषतायें वर्णित हैं:—

(१) असुर लोग 'प्रजापति' की सन्तान थे और उनकी तुलना वैदिक देवताओंके समान थी।

(२) असुर लोगोंकी भाषा संस्कृत नहीं थी। पाणिनिने उन्हें व्याकरणके ज्ञानसे हीन बताया है। ऋग्वेद (७।१८-१३) में उन्हें 'विरोधी भाषा-भाषी' (of hostile speech) और वैदिक आर्योंका शत्रु (१।१७४-२) कहा है।

(३) असुर ध्वजचिह्न सर्प और गरुड़ थे।

(४) असुर क्षात्रधर्म प्रधान थे।

(५) असुर लोग ज्योतिष विद्यामें निष्णात थे। (ऋग्वेद १।२८।८)

(६) माया या जादू (magic) असुरका गुण था। (ऋग्वेद १।१६०-२३)

असुर लोगोंकी यह विशेषतायें आज भी जैनियोंके लिये अनूठी हैं। जैन शास्त्रोंमें आदिब्रह्मा ऋषभदेव 'प्रजापति' भी कहे गये हैं।[1] आजके जैनी उनकी सन्तान हैं और वे भी अन्य हिन्दु-ओंकी तरह आर्य ही हैं। जैनियोंकी भाषा संस्कृतसे स्थानपर प्राकृत रही है; जिसका व्याकरण अथवा साहित्यकरूप संस्कृतसे शायद अर्वाचीन है। प्राकृत संस्कृतसे भिन्न ही है। इसलिये जैनियों और असुरोंकी भाषा भी सदृश प्रगट होती है। असुर चिह्न सर्प

१. महापुराण-जिनसहस्रनाम

जैनोंमें विशेष रूढ़ है। एकसे अधिक जैन तीर्थङ्करों और शासन देवताओंसे उसका सम्बन्ध है। हां, गरुड़का चिह्न जैनोंमें उतना प्रचलित नहीं है। जैनोंके सब ही तीर्थङ्कर क्षत्री थे और उनकी शिक्षा प्रत्येक मनुष्यको क्षात्र धर्मका अनुयायी बना देती है।

जैनियोंका आध्यात्मिक क्षात्रधर्म अनूठा है। ब्राह्मणों और बौद्धोंने जैनियोंको ज्योतिष विद्यामें निष्णात लिखा है[1] और प्राचीन भारतमें जैन मान्यतानुसार ही कालगणना प्रचलित थी।[2] इन विधर्मियोंने जैन तीर्थङ्करोंकी बाह्य विभूति देखकर उन्हें इन्द्रजालिया (जादूगर) आदि कहा है।[3] इस प्रकार असुर लोगोंकी खास विशेषतायें जैनोंमें मिलती हैं। उसपर उपरान्त असुर लोगोंद्वारा अथर्ववेदकी मान्यताका उल्लेख है, जिसे ऋषि अङ्गिरसने रचा था। यह ऋषि अङ्गिरस स्वयं एक समय जैन मुनि थे।[4] इस साक्षीसे भी असुरोंका जैनधर्मसे सम्बंधित होना प्रगट है। अन्ततः वैदिक पुराण ग्रन्थोंके निम्न उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि असुर भी एक समय जैनधर्मानुयायी थे:—

(१) 'विष्णुपुराण' (अ० १७-१८) में एक कथा है जिसका संक्षेप इसप्रकार है कि एक समय देवता और असुरोंमें

---

१. पञ्चतंत्र (५।१) प्रबोध चन्द्रोदय नाटक, न्यायबिन्दु अ० ३ आदि०। न्यायबिन्दुमें लिखा है: "यथा: सर्वज्ञ आप्तो वा स ज्योतिर्ज्ञानादिकमुपदिष्टवान्। यथा ऋषभवर्धमानादिरिति।"

२. अल्बेरूनीका भारत वर्ष देखो—इसने कालगणनामें अवसर्पिणीका उल्लेख किया है।

३. बृहत्स्वयंभूस्तोत्रादि। ४. "दिजै"—विशेषांक....

बड़ा भारी युद्ध हुआ तब देवता हार गये और असुर जीत गये। हारे हुये देवगण विष्णु भगवानकी शरणमें आये और बहुत स्तुति करके कहा कि महाराज, कुछ ऐसा उपाय कीजिये जिससे हम असुरोंपर विजय प्राप्त कर सकें। विष्णु भगवानने यह सुनकर अपने शरीरसे एक मायामोह नामका पुरुष उत्पन्न किया। वह दिगम्बर घुटे सिरवाला और मोर पिच्छिधारी था।

इस मायामोहको विष्णुने उन देवोंको देकर कहा कि यह मायामोह अपनी माया (जादू) से असुरों या दैत्योंको धर्म-भ्रष्ट कर देगा और तब तुम विजयी होगे। मायामोह देवोंके साथ असुरोंके पास पहुंचा और उन्हें बहुत तरह समझाकर बताया कि आर्हत (जैन) धर्म ही श्रेष्ठ है-इसे धारण करो। असुरोंने मायामोहका उपदेश स्वीकार किया और वे धर्मभ्रष्ट होगये। तब देवोंने उन्हें जल्दी ही परास्त कर डाला।[1] इस कथामें वर्णित मायामोह एक दिगम्बर जैन मुनि हैं और उन्हें मायाजाली (जादूगर) बताया

---

१. इत्युक्तो भगवांस्तेभ्यो मायामोहं शरीरतः।
समुत्पाद्य ददौ विष्णुः प्राह चेदं सुरोत्तमान् ॥ ४१ ॥
मायामोहोयमखिलान् दैत्यांस्तान् मोहयिष्यति।
ततो वध्या भविष्यन्ति वेदमार्गबहिष्कृताः ॥ ४२ ॥
स्थितौ स्थितस्य मे वध्या यावन्तः परिपन्थिनः।
ब्रह्मणो येऽधिकारस्था देवदैत्यादिकाः सुराः ॥ ४३ ॥
तद्गच्छत नभीकार्या महामोहोऽयमग्रतः।
गच्छन्स्वद्योपकाराय भवतां भविता सुराः ॥ ४४ ॥ इत्यादि।
विष्णुपुराण अ० १८

है । उनका धर्म स्पष्ट रूपसे आर्हत मत (जैन धर्म) कहा गया है । नर्मदातटपर बसनेवाले असुरोंको उन्होंने जैनधर्म-रत बनाया था । असुरोंकी पूर्वोल्लिखित विशेषतायें इन जैनी असुरोंमें मिल जाती हैं ।

(२) एक ऐसी ही कथा हिन्दू 'पद्मपुराण' (प्रथम सृष्टि खंड १३ पृ० ३३) पर अंकित है और उसमें भी मायामोह जो दिगम्बर मुंडे सिर और मोर पिच्छिकाधारी योगी (योगी दिगम्बरो मुण्डो बर्हिपत्रधरोह्ययं) था, उसके द्वारा असुरोंका जैनधर्म-रत होना लिखा है ।[1]

(३) 'देवी भागवत' (चतुर्थ स्कंध अध्याय १३) में कथन है कि शुक्राचार्य अपने असुर—दैत्यादि यजमानोंको देखने गये तो क्या देखते हैं कि छलवेषधारी बृहस्पतिजी उन असुरोंको जैन धर्मका उपदेश देते हैं ।[2] वह असुरोंको 'देवोंका वैरी' कहकर सम्बोधन करते हैं, जैसे कि ऋग्वेदमें असुरोंको कहा गया है ।

---

१. बृहस्पतिसाहाय्यार्थं विष्णुना मायामोहसमुत्पादनम् दिगम्बरेण मायामोहेन दैत्यान् प्रति जैनधर्मोपदेशः दानवानां मायामोहमोहितानां गुरुणा दिगम्बरजैनधर्मदीक्षादानम् ।' (पद्मपुराण-वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई पृ० २) इस पुराणमें दैत्य, दानव और असुर शब्द समवाची अर्थमें व्यवहृत हुये हैं, क्योंकि अंतमें लिखा है 'त्रयीधर्मसमुत्सृज्य मायामोहेन तेऽसुराः ।'

२. 'छद्मरूपधरं सौम्यं बोधयंतं छलेन तान् ।
जैनधर्मं कृतं स्वेन यज्ञनिंदा परं तथा ॥ ५४ ॥
भो देवरिपवः सत्यं ब्रवीमि भवतां हितम् ।
अहिंसा परमो धर्मोऽहंतव्याह्याततायिनः ॥ ५५ ॥ इत्यादि ।

(४) 'मत्स्यपुराण' (अ० २४) में भी देवासुर युद्धका प्रसंग आया है और उसमें भी उनमें जैन धर्मका प्रचार होना वर्णित है।[1]

इन उद्धरणोंसे सिद्ध है कि भारतके प्राचीन निवासी असुर लोगोंमें जैनधर्मका प्रचार रहा है ; वे देवासुर संग्रामके समय जैनी थे। इसलिये वैदिक आर्योंकी सभ्यता और संस्कृतिसे पृथक् और प्राचीन जो सभ्यता और संस्कृति सिन्धु उपत्ययकामें मिलती है वह जैन धर्मानुयायी असुर लोगोंकी कही जासकती है और उसका सादृश्य द्राविड़ सभ्यतासे है। इसलिये उन दोनोंको एक मानना अनुचित नहीं है। जैन ग्रन्थोंसे एक अखिल भारतीय सभ्यता और संस्कृतिका ही पता चलता है।

मोहनजोदरोकी मुद्राओंपर विद्वानोंने ऐसी मूर्तियां और वाक्य पढ़े हैं जिनका सम्बन्ध जैन धर्मसे है। एक मुद्रापर 'जिनेश्वर' शब्द लिखा हुआ पढ़ा गया है।[2] मुद्राओंपर अङ्कित मूर्तियां योग-निष्ठ कायोत्सर्ग मुद्रावाली नग्न हैं, जैसी कि जैन मूर्तियां होती हैं।[3] एक पद्मासन मूर्ति तो ठीक भगवान पार्श्वनाथकी सर्पफणमण्डल युक्त प्रतिमाके अनुरूप है।[4] उनकी नासाग्र दृष्टि, कायोत्सर्ग मुद्रा और वृषभादि चिह्न ठीक जिन मूर्तियोंके समान हैं। यह समानता भी उन मूर्तियोंको जैन धर्मानुयायी पुरुषोंद्वारा निर्मित प्रगट करती हैं।

---

१. पुरातत्व, भा० ४ पृ० १७६
२. इंडिका० भा० ८ परिशिष्ट पृ० ३०
३. Modern Review, August 1932, pp. 155-160
४. मोद०, भा० १ पृ० ६० Plate XIII, 15, 16.

उधर जैन शास्त्रोंसे यह प्रगट ही है कि उत्तर भारतकी तरह दक्षिण भारतके देशोंमें भी सर्व प्रथम भ० ऋषभदेव द्वारा ही सभ्यता और संस्कृतिका प्रचार हुआ था। जब वह समूचे देशकी व्यवस्था करने लगे थे, तब इन्द्रने सारे देशको निम्नलिखित ५२ प्रदेशोंमें विभक्त किया था:-

"सुकौशल, अवंती, पुंड्र, उंड्र, अश्मक रम्यक, कुरु, काशी, कलिंग, अंग, बंग, सुह्य, समुद्रक, काश्मीर उशीनर, आनर्त, वत्स, पंचाल, मालव, दशार्ण, कच्छ, मगध, विदर्भ, कुरुजांगल, करहाट, महाराष्ट्र, सुराष्ट्र, आभीर, कोंकण, वनवास, आंध्र, कर्णाट, कोशल, चोल, केरल, दारु, अभिसार, सौवीर, सूरसेन, अपरांत, विदेह, सिंधु, गांधार, यवन, चेदि, पल्लव, कांबोज, आरट्ट, वाल्हीक, तुरुष्क, शक, और केकय।"[1]

1. "देशाः सुकोशलावंतीपुंड्रोंड्राश्मकरम्यकाः।
कुरुकाशीकलिंगांगवंगसुह्याः समुद्रकाः॥ १५२॥
काश्मीरोशीनरानर्त्तवत्सपंचालमालवाः।
दशार्णाः कच्छमगधा विदर्भा कुरुजांगलं॥ १५३॥
करहाटमहाराष्ट्रसुराष्ट्राभीरकोंकणाः।
वनवासांध्रकर्णाटकोशलाश्चोलकेरलाः॥ १५४॥
दार्वाभिसारसौवीरशूरसेनापरांतकाः।
विदेहसिंधुगांधारयवनाश्चेदिपल्लवाः॥ १५५॥
कांबोजारट्टवाल्हीकतुरुष्कशककेकयाः।
निवेशितास्तथान्येपि विभक्ता विषयास्तदा" ॥ १५६॥
आदिपुराण पर्व १६।

इनमें अश्मक रम्यक, करहाट, महाराष्ट्र, आभीर, कोंकण, बनवास, आंध्र, कर्णाट, चोल, केरल आदि देश दक्षिण भारतमें मिलते हैं। इससे स्पष्ट है कि भ० ऋषभदेव द्वारा इन देशोंका अस्तित्व और संस्कार हुआ था। अतः दक्षिण भारतमें जैन धर्मका इतिहास उस ही समय अर्थात् कर्मभूमिकी आदिसे ही प्रारंभ होता है। इस अपेक्षा हमें उसे दो भागोंमें विभक्त करना उचित प्रतीत होता है; अर्थात्:–

(१) **पौराणिक कालः**–इस अन्तरालमें भगवान ऋषभदेवसे २१ वें तीर्थङ्कर भ० नमिनाथ तकका संक्षिप्त इतिहास समाविष्ट होजाता है।

(२) **ऐतिहासिक कालः**–इस अन्तरालमें उपरान्तके तीर्थङ्करों और आजतक हुये महापुरुषोंका इतिहास गर्भित होता है। यह अन्तराल निम्न प्रकार तीन भागोंमें बांटना उपयुक्त है। अर्थात्:–

(१) प्राचीनकाल (ई० पूर्व ५००० से ई० पूर्व १)

(२) मध्यकाल (सन् १ से १३०० ई०)

(३) अर्वाचीनकाल (उपरान्त)

आगेके पृष्ठोंमें इसी उपर्युक्त क्रमसे दक्षिण भारतके जैन इतिहासका वर्णन करनेका उद्योग किया गया है। पहले ही 'पौराणिक काल' का विवरण पाठकोंके समक्ष उपस्थित किया जाता है।

सं० जैन इ० भाग ३ खंड १.

पौराणिक काल।

दक्षिण भारतका इतिहास।

पौराणिक काल।

("भ० ऋषभदेव और सम्राट् भरत")

भगवान ऋषभदेव अथवा वृषभदेव जैन धर्ममें माने गये इस अवसर्पिणीकालके पहले तीर्थङ्कर थे। जैन धर्ममें तीर्थङ्करसे भाव उस महापुरुषसे है जो इस संसार-समुद्रसे पार उतारनेके लिये और मोक्षस्थानको प्राप्त होनेके लिये एक धर्म-तीर्थकी स्थापना करते हैं। ऋषभदेव एक ऐसे ही तीर्थङ्कर थे। पर साथ ही उनको 'कुलकर' या 'मनु' भी कहा गया है। वह इसलिये कि उन्होंने ही वस्तुतः मनुष्यको सभ्य और संस्कृत जीवन व्यतीत करना सिखाया था। यह पहले लिखा जा चुका है कि भगवान ऋषभदेव अन्तिम कुलकर नाभिराय और उनकी रानी मरुदेवीके सुपुत्र थे। हिन्दू पुराण ग्रन्थोंमें उनकी गणना अवतारोंमें की गई है और उन्हें आठवां अवतार कहा गया है।

भगवानका जन्म चैत्र कृष्णा ९ को अयोध्यामें हुआ था और उनका जन्म-महोत्सव खूब धूमधामसे मनाया गया था। वह धर्मके प्रथम उपदेष्टा थे इसलिये उनका नाम 'श्री वृषभनाथ' रक्खा गया था। जिस समय वह रानी मरुदेवीके गर्भमें थे, उस समय उनकी माने सोलह शुभ स्वप्न देखे थे, जिनके अंतमें एक सुन्दर बैल था; संस्कृतमें बैलको 'वृषभ' कहते हैं और अलंकृत भाषामें वह धर्मतत्त्वके लिये व्यवहृत हुआ है।[1] इसलिये ही

1-भम० पृ० १२-१७; दी परमानेन्ट हिस्ट्री ऑव इंडिया देखो।

भगवानका ध्वजचिन्ह भी 'वृषभ' (Bull) था। भगवान ऋषभदेवकी जो मूर्तियां मिलतीं हैं उनमें यह बैलका चिह्न मिलता है।[1]

भगवान ऋषभदेव स्वयं ज्ञानी थे। मानवोंमें सर्वश्रेष्ठ थे। उनकी युवावस्थाकी चेष्टायें परोपकारके लिये होती थीं। उनसे जनताका वास्तविक हित सधा था। वे स्वयं गणित, छंद, अलंकार, व्याकरण, लेखन, चित्रलिपि आदि विद्याओं और कलाओंके ज्ञाता थे और उन्होंने ही सबसे पहले इनका ज्ञान लोगोंको कराया था। पूर्ण युवा होनेपर उनका विवाह कच्छ महाकच्छ नामक दो राजाओंकी परम सुंदरी और विदुषी नंदा और सुनंदा नामक दो राजकुमारियोंके साथ हुआ था।

रानी सुनन्दाके समस्त भरतक्षेत्रका पहला सम्राट् भरत चक्रवर्ती नामका पुत्र और ब्राह्मी नामकी कन्या हुई थी। ऋषभदेवने ब्राह्मीको ही पहले पहले लेखनकलाकी शिक्षा दी थी। इसीलिये भारतीय आदि लिपि 'ब्राह्मी लिपि' कहलाती है। दूसरी रानी सुनन्दाके महाबलवान बाहुबलि और परमसुंदरी सुन्दरी नामकी कन्या हुई थी। भरतके वृषभसेन आदि अट्ठानवे भाई और थे। इन सब पुत्रोंको विविध प्रदेशोंमें राजप्रतिष्ठ करके ऋषभदेव निश्चित हुये थे। यह हम पहले लिख चुके हैं कि प्रजाकी आदि व्यवस्था

१. मोहनजोदड़ाकी मुद्राओंपर कतिपय कायोत्सर्ग मुद्राकी नग्न मूर्तियां अंकित हैं जिनपर बैलका चिह्न भी है। रा० ब० रामप्रसाद चन्दा महाशय उन्हें भ० ऋषभदेवकी मूर्तिके समान प्रगट करते हैं। भ० ऋषभदेवने कायोत्सर्ग मुद्रामें तपश्चरण किया था। (Modern Review, Aug: 1932, p. 159.)

भ० ऋषभदेव द्वारा ही हुई थी। भरत युवराज थे और ऋषभदेवके मुनि होजाने पर राज्याधिकारी हुये थे। उनके भाइयोंमेंसे कतिपयका राज्य दक्षिण भारतके निम्न लिखित प्रदेशोंमें था:—

अश्मक, मूलक, कलिंग, कुंतल, महिषक, नवराष्ट्र, भोगवर्द्धन इत्यादि।

भगवान ऋषभदेव और उनकी सन्तान 'इक्ष्वाकु क्षत्रिय' कहलाते थे। यही इक्ष्वाकुवंश उपरान्त 'सूर्य' और 'चन्द्र' वंशोंमें विभक्त होगया था। सम्राट् भरतने सभ्यता और संस्कृतिके प्रसारके लिये छहों खंड पृथ्वीकी दिग्विजय की थी। उन्हींके नामकी अपेक्षा यह देश 'भारतवर्ष' कहा जाता है। भारतके उत्तर और दक्षिण भागोंका एक ही नाम होना इस बातका प्रमाण है कि समूचा देश भरत महाराजके अधिकारमें था। सारे भारतका तब एक ही राजा, एक ही धर्म और एक ही सभ्यता थी।

नृत्यकारिणी नीलांजसाको नृत्य करते करते ही विलीयमान होता देखकर ऋषभदेवको वैराग्य उत्पन्न हुआ। चैत्र वदी नवमीके दिन भगवान् दिगम्बर मुनि हो तपश्चरण करने लगे। उनके साथ चार हजार अन्य राजा भी मुनि होगए। परन्तु कठिन मुनिचर्याको वह निभा न सके। इसलिये मुनिपदसे भ्रष्ट होकर वे नाना पाखण्डोंके प्रतिपादक हुये। इनमें भ० ऋषभदेवका पौत्र मरीचि प्रधान था उसने सांख्य मतके सदृश एक धर्मकी नींव डाली थी।

आखिर भ० ऋषभदेव सर्वज्ञ परमात्मा हुये और तब उन्होंने सारे देशमें विहार करके लोकका महान् कल्याण किया था। वह

इस कालमें आदि धर्म-देशना थी। भगवानने काशी, अवंती, कुरुजांगल, कोशल, सुह्म, पुंड्र, चेदि, अंग, बंग, मगध, अंध्र, कलिंग, भद्र, पंचाल मालव, दशार्ण, विदर्भ आदि देशोंमें विहार किया था। लोगोंको सन्मार्गपर लगाया था। अन्ततः कैलास पर्वत पर जाकर भगवान विराजमान हुये थे और वहींसे माघ कृष्णा चतुर्दशीको भगवान निर्वाणपदके अधिकारी हुये। भरत महाराजने उनके स्मारकमें वहां उनकी स्वर्ण-प्रतिमा निर्मित कराई थी।*

दक्षिण भारतके प्रथम सम्राट् बाहुबलि।

भगवान ऋषभदेवके दूसरे पुत्र बाहुबलि थे। यह महा बलवान और अति सुंदर थे। इसीलिये इनको पहला कामदेव कहा गया है। भगवान ऋषभदेवने बाहुबलिको अश्मक-रम्यक अथवा सुरम्य देशका शासक नियुक्त किया था और वह पोदनपुरसे प्रजाका पालन करते थे। अपने समयके अनुपम सुन्दर और श्रेष्ठ शासकको पाकर उनकी प्रजा अतीव संतुष्ट हुई थी। यही वजह है कि आज भी उनकी पवित्र स्मृति लोगोंके हृदयोंमें सजीव है।

दक्षिण भारतके लोग उन्हें 'गोमट्ट' अर्थात् 'कामदेव' नामसे स्मरण करते हैं और निस्सन्देह वह कामदेव थे। परन्तु कामदेव होते हुये भी बाहुबलि नीति और मर्यादा धर्मके आदर्श थे। साथ ही उनकी मनोवृत्ति स्वाधीन और न्यायानुमोदित थी। वह अन्यायके प्रतिकार और कर्तव्य पालनके लिये मोह ममता और कायरतासे

* विशेषके लिये आदिपुराण व संक्षिप्त जैन इतिहास प्रथम भाग देखो।

परे रहते थे। 'स्वार्थ' नहीं-'कर्तव्य' उनका मार्गदर्शक था। इसीलिये वह एक आदर्श सम्राट् और महान योगीके रूपमें प्रसिद्ध हुए।

'चक्रवर्ती'-पदको सार्थक बनानेके लिये अपने और परावे सब ही शासकोंको एकदफा नतमस्तक बना देना आर्य राजनीतिका तकाज़ा रहा है। सम्राट् भरतको चक्रवर्ती होना था। उन्होंने षट्खण्ड पृथ्वी जीत ली थी। परन्तु उनके भाई अभी बाक़ी थे। सम्राट्ने चाहा कि उनके भाई केवल उनकी आन मान लें। पर वे सब स्वाधीन वृत्तिके क्षत्री थे। उन्होंने भाईके स्वार्थ और ऐश्वर्य-मदको विवेक नेत्रसे देखा और सोचा-"यह पृथ्वी पिताजीने हमें दी है। हमारे बड़े भाई उसपर अपना अधिकार चाहते हैं। हम इसमें मोह क्यों करें? पिताजी इसे छोड़ गये। चलो, हम भी इसे त्याग दें।" उन्होंने जैसा सोचा वैसा कर दिखाया। वे सब तीर्थङ्कर ऋषभदेवके चरणतलमें जाकर मुनि होगये।

भरतके भाइयोंमें बाहुबलि बाकी रहे। भरत महाराजने मंत्रियोंकी सम्मतिको आदर देकर अपना दूत उनके पास भेजा। दूतने बहुतसी उतार चढावकी बातें कहीं; परन्तु बाहुबलिपर उनका कुछ भी असर नहीं हुआ। उन्होंने दूतके द्वारा भरत महाराजको रणाङ्गणमें आनेके लिये निमंत्रण भिजवा दिया। सम्राट् भरत पहलेसे ही इस अवसरकी प्रतीक्षामें थे। उन्होंने अपनी चतुरंगणी सेना सजाई और वह लावलश्कर लेकर पोदनपुरके लिये चल दिये।

उधर बाहुबलिकी सेना भी शस्त्रास्त्रसे सुसज्जित हो रणक्षेत्रमें आडटी। दोनों सेनायें आमने-सामने युद्धके लिए तैयार थीं। दो

नरपुंगवोंकी जबान हिलाने भरकी देर थी कि लाखों नरमुंड धरातल पर लोटते दिखाई देते। परन्तु दोनों शासकोंके राजमंत्रियोंका विवेक जागृत हुआ। उन्होंने देखा, यह निरर्थक हिंसा है—अनर्थदण्ड है। इसे क्यों न रोका जाय? दोनोंने नरशार्दूलोंको समझाया। निरपराध मनुष्योंकी अमूल्य जानें क्यों जाँयें? स्वयं भरत और बाहुबलि ही अपने बल पौरुषकी परीक्षा करलें। यही निश्चित हुआ। मल्युद्ध—नेत्रयुद्ध आदि कई प्रकारके युद्धोंमें दोनों वीरोंने अपने भाग्योंकी परीक्षा की; परन्तु बाहुबलिका पौरुष महान था। भरत उनको न पा पाये। वह खिसिया गये।

अपमानके परितापसे वह ऐसे क्षोभित हुए कि उन्होंने अपने भाई पर ही चक्र चला दिया; किन्तु सगोत्री होनेके कारण चक्र भी बाहुबलिका कुछ न बिगाड़ सका। हाँ, भरतकी यह स्वार्थपरता देखकर उनके हृदयको गहरी चोट पहुँची। उनको राज-पाट हेय जँचने लगा। उन्होंने मनुष्यकी माया-ममताको धिक्कारा और वस्त्रा-भूषण त्याग कर दिगम्बर मुनि होगए। भरत नतमस्तक होकर अयोध्या लौट आये। पोदनपुरमें बाहुबलिका पुत्र राज्यशासन करने लगा और उन्हींकी सन्ततिका वहां अधिकार रहा।

पोदनपुरमें रहकर बाहुबलिने घोर तपश्चरण किया। वह कायो-त्सर्ग मुद्रामें शान्त और गंभीर बने हुए एक सालतक लगातार ध्यानमग्न रहे। चीटियोंने उनके पांवोंके सहारे बांबियां बनालीं, लतायें उनके शरीर पर चढ़ गईं; परन्तु उनको ज़रा भी ख़याल न हुआ। उधर भरतमहाराजको भी भाईके दर्शन करनेकी अभिलाषा

हुई। वह पोदनपुर गये। उन्होंने बड़े प्रेमसे राजर्षि बाहुबलिकी वन्दना की। बाहुबलि निराकुल हुए। उन्होंने अपने ध्यानको और भी विशुद्ध बनाया और घातिया कर्मोंका नाश कर दिया। वह केवलज्ञानी होगए। देवोंने उत्सव मनाया। भरतमहाराजने उनके केवलज्ञानकी पूजा की। बाहुबलिने चातक श्रोताओंको धर्मामृत पान कराया। और वह सारे देशमें विहार करने लगे। भरतमहाराजने उनकी पवित्र स्मृतिमें पोदनपुरमें एक स्वर्णमूर्ति उन्हींके आकारकी स्थापित कराई; जो वहाँ एक लम्बे समय तक विद्यमान रही।

विहार करते हुए राजर्षि बाहुबलि कैलाश पर्वतपर पहुँचे और वहाँपर उन्होंने पूर्ण ध्यानका आश्रय लिया, जिसके परिणाम स्वरूप वह निर्वाणके अधिकारी हुए।

विद्वानोंका अनुमान है कि बाहुबलि ही दक्षिणभारतके पहले सम्राट् धर्मामृत वर्षा करके मोक्षलाभ करनेवाले पहले मनुष्य थे।[1] हमारे विचारसे यह मान्यता है भी ठीक; क्योंकि बाहुबलिका राज्यप्रदेश अश्मकरम्यक और पोदनपुर दक्षिणभारतमें ही अवस्थित प्रमाणित होते हैं। यद्यपि कोई २ विद्वान् पोदनपुरको भारतकी पश्चिमोत्तर सीमामें अवस्थित और प्राय: तक्षशिला ही अनुमान करते हैं; परन्तु उनकी यह मान्यता युक्तिपुरस्सर नहीं है। निम्न पंक्तियोंमें पाठकगण पोदनपुरको प्राचीन दक्षिणापथमें अवस्थित सिद्ध हुआ पढ़ेंगे।

जैन ग्रंथमें पोदनपुरका कथन अनेक स्थलोंपर आया है और

१—पद्मपुराण चतुर्थ पर्व श्लो० ६७—७७.

उनका उल्लेख आगेके पृष्ठोंमें पाठकगण यथास्थान पढ़ेंगे। सबसे पहले इसका उल्लेख बाहुबलिजीके सम्बन्धमें हुआ मिलता है। 'महापुराण' में लिखा है कि भरतके दूतने पोदनपुरको शालिचावल और गन्नेके खेतोंसे लहलहाता पाया था और वह 'मंदयान' दिनोंमें ही वहां पहुंच गया था।[1] 'हरिवंशपुराण' में लिखा है कि दूत अयोध्यासे पश्चिम दिशाको चलकर पोदनपुर पहुंचा था।[2]

इन उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि पोदनपुर अयोध्यासे बहुत ज्यादा दूर नहीं था और न वह अयोध्यासे उत्तर दिशामें था; जैसे कि तक्षशिला होनी चाहिये। उसके आसपास शालिचावल और गन्ना होते थे। तक्षशिलामें यह चीजें शायद ही मिलती हों। साथ ही तक्षशिलामें एक बृहत्काय बाहुबलि मूर्तिके अस्तित्वका पता नहीं चलता, जोकि पोदनपुरका खास स्मारक था।

बाहुबलिके अतिरिक्त पोदनपुरका खास उल्लेख भगवान पार्श्वनाथके पूर्वभव चरित्रमें मिलता है। भगवान पार्श्वनाथ अपने पहले भवमें पोदनपुरके राजा अरविन्दके पुरोहित विश्वभूतिके सुपुत्र मरुभूति थे। उनके भाई कमठ थे। कमठ दुष्ट प्रकृतिका मनुष्य था। उसने मरुभूतिकी स्त्रीसे व्यभिचार सेवन किया; जिसका दण्ड उसे देशनिकाला मिला।

१–'शालिवप्रेषु'–'शालीक्षुवीरुत्क्षेत्रैर्वृतः' (३५ पर्व)
"क्रमेण देशान् स्तिवृत्य देशसंधीश्च सोऽतियन्।
प्रापत् संख्यमानैस्तत्पुरं पोदनाह्वयम् ॥"
२–हरिवंशपुराण, सर्ग ११ श्लोक ७९।

वह पोदनपुरसे चलकर भूताचल पर्वतपर एक तापसाश्रममें कुतप तपने लगा। मरुभूति मरकर मलयपर्वतके कुब्जकमल्लकी बनमें हाथी हुआ। वह वहां वेगवती नदीके किनारेपर रहता था। 'उत्तर-पुराण' में स्पष्ट शब्दोंमें पोदनपुरको दक्षिणभारतके सुरम्यदेशमें अवस्थित लिखा है।[1] श्री वादिराजसूरिने भी पोदनपुरको सुरम्यदेशमें शालिचावलोंके खेतोंसे भरपूर लिखा है।[2] वहांसे भूताचल पर्वत अधिक दूर नहीं था। श्रीजिनसेनाचार्यने भूताचलके स्थानपर रामगिरि पर्वत लिखा है।[3] अब यह देखना चाहिये कि पोदनपुरके निकटवर्ती उपरोक्त स्थान कहांपर थे?

पहले ही भूताचल या रामगिरि पर्वतको लीजिये। श्री जिनसेनाचार्यने रामगिरिका उल्लेख भूताचलके लिये किया है, इसलिये यह अनुमान करना ठीक है कि रामगिरि और भूताचल एक ही पर्वतके भिन्न नाम थे, अथवा एक पर्वतकी दो शिखिरोंके नाम थे। रामगिरि नागपुर डिवीजनका रामटेक है,[4] जो आज भी एक प्रसिद्ध तीर्थस्थान है। श्री उग्रादित्याचार्यने रामगिरिके जैन मंदिरमें ही बैठकर ग्रंथ रचना की थी। उन्होंने उसे त्रिकलिङ्ग देशमें अवस्थित-

१–"जंबूविभूषणे द्वीपे भारते दक्षिणे महान्।
सुरम्यो विषयस्तत्र विस्तीर्ण पोदनं पुरं॥"

२–पार्श्वनाथचरित् प्रथम सर्ग श्लोक ३७–३८, ४८ व सर्ग २ श्लोक ६९।

३–पार्श्वाभ्युदयकाव्य–'यो निर्भर्त्स्य'–इत्यादि पद्य देखो।

४–जैन सिद्धांत भास्कर (जैसिभा०) भा० ३ पृ० ९३–९४।

लिखा है, जिसे विद्वज्जन आधुनिक मध्यप्रांत ही प्रगट करते हैं।[1] अब जब रामगिरि रामटेक है तो भूताचल भी वहीं कहीं होना चाहिये।

हमारे मित्र श्री गोविन्द पै नागपुर डिवीजनके वेतूल जिलेको भूताचल अनुमान करते हैं। उसके आसपास पर्वत हैं और वह अश्मकदेशसे भी दूर नहीं है, जैसे कि प्राचीन भारतके नकशेसे स्पष्ट है।[2] हिन्दू 'मत्स्यपुराण' से एक 'तापस' नामक प्रदेशका दक्षिणापथके उत्तर भागमें होना प्रगट है,[3] जो यूनानी लेखक टोल्मीका मध्यदेशवर्ती 'तबसै' (Tabassoi) प्रतीत होता है। अतः यह संभव है कि कमठ व तापस देशमें स्थित भूताचल या रामगिरि पर्वतपर कुतप तपने गया था। जो हो, यह स्पष्ट है कि पोदनपुरके निकट अवस्थित उपरोक्त पर्वत दक्षिणापथके उत्तरीय भागमें विद्यमान थे।

अब मलय पर्वत और कुब्जकसलकी बनको लीजिये। कनिंघम सा०ने मलयपर्वतको द्राविड़ देशमें स्थित बताया है।[4] चीनदेशके यात्री ह्वान्त्सांगने उसे कांचीसे दक्षिणकी ओर ३०००

१-'वेङ्गाश त्रिकलिङ्ग देश....रम्ये रामगिरावंद....।'
—जसिमा० २ पृ० ९३।

२-प्रो० मुकरजीकी 'Fundamental Unity of India' नामक पुस्तकमें लगा हुआ प्राचीन भारतका नकशा देखो।

३-मत्स्यपुराण (Panini office ed., S. B. H. Vol. XVII) ch. CXIV.

४-ऑएइ० पृ० ६२७।

मीलकी दूरीपर लिखा है।[1] वेगवती नदी भी द्राविड़देशमें है।[2] मलयपर्वतपर चन्दन वृक्षोंका वन था। वही कुञ्जकसलकी वन अनुमान किया जासकता है। इसप्रकार पोदनपुरके पासमें अवस्थित ये उपरोक्त स्थान भी दक्षिण भारतमें मिलते हैं। पोदनपुर इनसे उत्तरकी ओर होना चाहिये; क्योंकि 'भुजबलि चरित' में उल्लेख है कि गङ्ग सेनापति चामुण्डराय पोदनपुरकी यात्रा करनेके लिये उत्तरकी ओर चलते हुये श्रवणबेलगोल पहुंचे थे।[3]

शेष रहा सुरम्य देश, जिसकी राजधानी पोदनपुर थी। यह देश भी दक्षिणापथमें अवस्थित मिलता है। यूनानी लेखक टोलमीने 'रमनै' (Ramnai) नामक एक प्रदेश मध्यप्रदेशमें लिखा है, जो वर्तमानके मध्यप्रान्त, बरार और निजाम राज्यके कुछ अंश जितना था। संभवतः यह रमनै ही जैनोंका सुरम्य देश है। 'आदिपुराण' में इसीका नाम संभवतः अश्मकाम्यक है।

अब जरा अजैन साक्षीपर भी ध्यान दीजिये। बौद्ध जातकोंमें पोदनपुर अश्मकदेशकी राजधानी कहा गया है तथा 'सुत्तनिपात'में अस्सकदेश गोदावरी नदीके निकट सह्य पर्वत, पश्चिमी घाट और दण्डकारण्यके मध्य अवस्थित लिखा है।[4] संस्कृत भाषाके कोष 'बृहदाभिधान' में पौण्ड्य राजा अश्मककी राजधानी कही गई है और रामायण' (किष्किन्धाकाण्ड) में अश्मक देश भारतके दक्षिण

१-पूर्व० पृ० ७४१। २-पूर्व० पृ० ७३९।
३-श्रवणबेलगोल पृ० १०-११।
४-अंबेग० भाग २२ पृ० २११।

या दक्षिण पश्चिमोत्तर भागमें बताया गया है।[1] किन्तु प्रश्न यह है कि क्या अजैन ग्रंथोंका पोदन या पौण्ड्य और अश्मकदेश जैनशास्त्रोंका पोदनपुर और सुरम्यदेश है? हमारे ख्यालसे उन्हें एक मानना युक्तिसंगत है।

आदिपुराणानुसार सुरम्यदेशका अपरनाम यदि अश्मक--रम्यक माना जाय तो अश्मकदेशको सुरम्य माना जासकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अश्मकका अपर नाम रम्यक या सुरम्य था अथवा यह भी संभव है कि उसके उपरान्त दो भाग अश्मक और रम्यक होगए हों। यह स्पष्ट ही है कि अश्मक और रम्यक प्रायः एक ही दक्षिणापथवर्ती प्रदेश था। 'हरिवंशपुराण' में अश्मकको दक्षिण देश ही लिखा है।[2]

अजैन लेखकोंने भी अश्मकको दक्षिणभारतका देश लिखा है। वराहमिहिरने आंध्रके बाद अश्मकको गिना है।[3] राजशेखरने भी 'काव्यमीमांसा' में अश्मकको दक्षिणदेश लिखा है।[4] शाकटायनने साल्व (आंध्रों) के बाद अश्मकका उल्लेख किया है।[5] कौटिल्यने अश्मकको हीरोंके लिये प्रख्यात और राष्ट्रिकोंके बाद लिखा है।[6]

विन्ध्याचलके परे प्राचीन दक्षिणापथमें हमें हीरोंकी प्रसिद्ध

१–अंजग० भा० २२ पृ० २११।
२–हरि० सर्ग ११ श्लोक ७०–७१।
३–वराहमिहिरसंहिता परि० १६ श्लो० ११।
४–G. O. S., Vol. I, ch. XVII P. 92.
५–(२।४।१०१)
६–अर्थशास्त्र, अधिकार २, प्रकरण २९।

स्थान गोलकुन्डा मिल जाती है। इसलिये अश्मकदेश आजकलका बरार और निजाम राज्यका कुछ अंश जितना था। उधर सुरम्यदेश भी मध्यप्रान्त, बरार और निजाम राज्यको अंशको अपनेमें लिये हुये था, यह पहले ही लिखा जाचुका है। अतः दोनों देशोंको एक अथवा एक देशके दो भाग मानना युक्तिसंगत है। इस अवस्थामें पोदनपुर भारतकी पश्चिमोत्तर सीमापर नहीं माना जासकता।

कवि धनपालने 'भविष्यदत्त कथा' में हस्तिनापुरके राजा और पोदनपुरके शासकमें युद्ध होनेका उल्लेख किया है। इन दोनों राज्योंके बीचमें कच्छ देशकी स्थिति वैसी ही थी जैसी कि गत यूरोपीय महायुद्धमें बेलजियमकी थी। यह कच्छ देश सिंधुदेशके समीप स्थित कच्छ नहीं होसकता; क्योंकि वह दोनों राज्योंके बीचमें नहीं पड़ता। हां, यदि यह कच्छ देश ग्वालियर राज्यके नरवर-जिलेमें रहे हुये कच्छवाहे क्षत्रियोंका प्रदेश माना जाय, जिसका मानना ठीक प्रतीत होता है, तो उसकी स्थिति दोनों राज्योंके ठीक बीचमें आजाती है।

कवि धनपालने पोदनपुर नरेशको साकेत नरेन्द्र भी लिखा है, जिसका भाव यही है कि वह साकेत (अयोध्या) के राजवंशसे सम्बन्धित थे। पोदनपुर राजकुलके आदिपुरुष बाहुबलि साकेत-राजाके सुपुत्र और युवराज थे। कवि धनपालने पोदनपुरको सिंधु-देशमें लिखा है सो ठीक है, क्योंकि अवन्तीके आसपासका प्रदेश सिन्धुनदीकी अपेक्षा सिन्धुदेश भी कहलाता था। अतः बाहुबलि

१-G. O. S., Vol. XX. Intro:

नरेशकी राजधानी पोदनपुर दक्षिणापथमें ही प्रमाणित होती है।[1] बाहुबलि दक्षिण भारतके पहले सम्राट् थे और पहले साधु थे। दक्षिण भारतमें आज भी उनकी बृहत्काय पाषाणमूर्तियां इस स्मारकको जीवित बनाये हुए हैं।

"अन्य तीर्थकर और नारायण तृपृष्ट।"

भगवान् ऋषभदेवके अतिरिक्त पौराणिक कालमें भगवान अजितनाथसे भगवान् अरिष्टनेमि पर्यन्त २१ तीर्थङ्कर और हुये थे। इन तीर्थङ्करोंने भी केवलज्ञान प्राप्त करके उत्तर और दक्षिणभारतमें विहार किया और धर्मोपदेश दिया था। 'उत्तरपुराण' में लिखा है[2] कि मलयदेशके भद्रपुरमें तीर्थङ्कर शीतलनाथका जन्म हुआ था। और वहींपर मुंडशालयन नामक एक ब्राह्मण रहता था; जिसने लोभ कषायके वश हो करके ऐसे शास्त्रोंकी रचना की कि जिनमें ब्राह्मणोंको सोने चांदीका दान देनेका वर्णन था।

उन शास्त्रोंको राजदरबारमें उपस्थित करके उसने दान दक्षिणामें बहुतसा धन प्राप्त किया था। यहींसे मिथ्या मतका प्रचार हुआ कहा गया है। मलयदेश द्राविड़क्षेत्रमें माना जाता है। इसलिये भद्रपुर भी वहीं अवस्थित प्रगट होता है; किन्तु आधुनिक मान्यतानुसार शीतलनाथ भगवानका जन्मस्थान वर्तमान भेलसा है, जो मध्यप्रदेशमें अवस्थित है। इस मान्यताका क्या आधार है, यह ज्ञात नहीं है।

१-विशेषके लिये 'बूलनर कमोमेरेशन वाल्यूम' (लाहोर) में हमारा 'पोदनपुर और तक्षशिला' शीर्षक लेख देखो।

२-उपु० ५६।२३-८९।

दूसरे तीर्थङ्कर भ० अजितनाथके समयमें सगर चक्रवर्ती हुये थे। उन्होंने षट्खंड दिग्विजय किये थे, जिसका अर्थ यह होता है कि उन्होंने दक्षिणभारतको भी विजय किया था। उनके पश्चात् कालानुसार मघवा, सनत्कुमार, सुभौम, पद्म, हरिषेण आदि चक्रवर्ती हुवे थे, जिन्होंने भी अपनी दिग्विजयमें दक्षिणभारत पर अपनी विजय–वैजयन्ती फहराई थी।

भ० श्रेयांसनाथके समयमें दक्षिणापथवर्ती पोदनपुरके राजा प्रजापति थे। उनकी महारानीका नाम भगवती था। उनके एक भाग्यशाली पुत्र जन्मा, जिसका नाम उन्होंने तृपृष्ट रक्खा। यही तृपृष्ट जैनशास्त्रोंमें पहले नारायण कहे गये हैं। तृपृष्टकी विमातासे उत्पन्न विजय नामक भाई पहले बलदेव थे। तृपृष्ट और विजयमें परस्पर बहुत ही प्रेम था।

नारावण तृपृष्टने प्रतिनारायण अश्वग्रीवको युद्धमें हराकर दक्षिण भारतको अपने आधीन किया था। तृपृष्टकी पट्टरानी स्वयं-प्रभा थी और उसके ज्येष्ठ पुत्रका नाम श्रीविजय था। श्रीविजयका विवाह ताराके साथ हुआ था। तृपृष्टके बाद पोदनपुरके राजा श्रीविजय हुये थे। उनके भाई विजयभद्र युवराज थे। ताराको एक विद्याधर हर लेगया था। श्रीविजयने युद्ध करके ताराको उस विद्याधरसे वापस लिया था। राजा प्रजापति और बलदेवविजयने मुनिव्रत धारण कर कर्मोका नाश किया था; परन्तु तृपृष्ट बहु परि-ग्रही होनेके कारण नरकका पात्र बना था। तो भी इसमें शक नहीं कि दक्षिण भारतका वह दूसरा प्रसिद्ध और बलवान राजा था।[१]

१–पर्व ५७ व पर्व ६२ देखो।

नारायण द्विपृष्ट।

दूसरे नारायण द्विपृष्ट भगवान वासुपूज्यके समयमें हुये थे। यद्यपि उनका जन्म द्वारावती नगरीमें हुआ था, परन्तु उनके पूर्व-भवका सम्बन्ध दक्षिण भारतसे अवश्य था। अपने पूर्वभवमें वह कनकपुरके राजा सुषेण थे। उनकी गुणमंजरी नामक नृत्यकारिणी सुंदरी और विद्वान् थी। मलयदेशके विंध्यपुर नगरमें राजा विंध्य-शक्ति राज्य करता था। उसने गुणमंजरीकी प्रसिद्धि सुनी और सुनते ही उसने सुषेणसे उसे मंगवा भेजा। और जब सुषेणने उसे राजीसे नहीं दिया तो वह सुषेणको युद्धमें परास्त करके जीत लाया। सुषेण मुनि होगया और आयु पूरी कर स्वर्गमें देव हुआ।

वहांसे चयकर वही नारायण द्विपृष्ट हुआ। विंध्यशक्तिसे उसका पूर्व वैर था—उसे वह भूला नहीं। विंध्यशक्तिका जीव संसारमें रूल कर भोगवर्द्धनपुरके राजाके यहां तारक नामक श्याम-वर्ण पुत्र हुआ। तारक राजा होनेपर एक प्रभावशाली शासक और विजेता सिद्ध हुआ। तारकने द्विपृष्टसे भी कर मांगा, परन्तु द्विपृष्टने इसे अपना अपमान समझा। इसी बातको लेकर दोनोंमें घमासान युद्ध हुआ, जिसमें तारकको अपने प्राणोंसे हाथ धोने पड़े। द्विपृष्टने तीन खंड पृथ्वीका स्वामित्व प्राप्त किया। दिग्विजय करके उन्होंने प्रतीप नामक पर्वतपर श्री वासुपूज्य स्वामीकी वन्दना की। द्विपृष्ट यद्यपि बलवान राजा था, परन्तु वह इन्द्रियोंका गुलाम था। इसी लिये शास्त्रोंमें कहा गया है कि वह मरकर नरकका पात्र हुआ।[१]

१–उपु० ५८।६१–७७।

पोदनपुरके अन्य राजा।

तीर्थंकर विमलनाथके समयमें गणधर मेरुमंदर और मुनि संजयंत हुये थे। उनके पूर्वभवके वर्णनमें पोदनपुरके राजा पूर्णचन्द्रका उल्लेख है। राजा पूर्णचन्द्रको साकेतके राजा आदित्यबलकी पुत्री हिरण्यवती व्याही गई थी। उनका पुत्र सिंहचंद्र था।[1] पूर्णचंद्रकी पुत्री रामदत्ताका व्याह सिंहपुरके राजा सिंहसेनके साथ हुआ था।[2]

तीर्थंकर अनंतनाथके सुप्रभ नामक बलभद्र और पुरुषोत्तमनारायण हुये थे। उनके पूर्वभवान्तरोंमें पोदनपुरके राजा वसुसेनका उल्लेख है। वसुसेनकी महारानी नंदा परमपवित्र और अनुपम सुंदरी थीं। वसुसेनका मित्र मलयदेशका राजा चंडशासन था। एकदा वह उससे मिलने आया। रानी नंदाके रूपलावण्यपर वह आसक्त होगया और किसी उपायसे उसे हरकर वह अपने नगर लेगया। राजा वसुसेन विरक्त हो मुनि होगया।[3]

राजर्षि बाहुबलीकी ही वंशपरंपरामें उपरांत श्रेष्ट राजा तृणपिंगल हुआ। उसकी पट्टरानीका नाम सर्वयशादेवी था। उनके मधुपिंगल नामक सुन्दर पुत्र था। अयोध्याके सगरने चालाकीसे उसे दूषित शरीर ठहराकर एक स्वयंवरसे निकलवा दिया था; जिस क्रोधको लेकर वह मरा और महाकाल नामका व्यंतर हुआ। इस महाकालने अपना वैर चुकानेके लिये यज्ञमें पशुओंको होमनेकी प्रथाका श्रीगणेश किया था।[4]

१—उत्त० ५९।२०८-९। २ हरि० २७।५५।
३—उपु० ६०।५०-५७। ४—उपु० ६७।२२३-२५।

पोदनपुरके एक अन्य राजा सुप्रतिष्ठ थे। यह राजा सुस्थित और रानी सुलक्षणाके सुपुत्र थे। कारण पाकर यह विरक्त होकर सुधर्माचार्यके चरण-कमलोंमें मुनि होगये। हरिवंशके महापुरुष अंधकवृष्णि आदिने इन सुप्रतिष्ठ मुनिराजसे धर्मोपदेश सुनकर मुनिव्रत धारण किये थे। मुनिराज सुप्रतिष्ठका शौरसेन देशमें कईबार विहार हुआ था। आखिर वहींके गंधमादन पर्वतपर उन्हें कैवल्य प्राप्त हुआ था और वे मोक्षपदके अधिकारी हुये थे।[1]

पांडवोंके समयमें पोदनपुरका राजा चन्द्रवर्मा था। वह राजा चंद्रदत्त और रानी देविलाका पुत्र था। राजा द्रुपदके एक मंत्रीने उसके साथ द्रौपदीका व्याह करनेकी बात कही थी।[2]

'भविष्यदत्त कथा' में पोदनपुरके एक राजाका युद्ध हस्तिनापुरके राजा भूपालके साथ हुआ वर्णित है। इस युद्धमें पोदनपुर नरेशको पराजित होना पड़ा था।[3]

चक्रवर्ती हरिषेण।

[illegible] हुये थे। उनका जन्म [illegible] रानी ऐरादेवीकी कोखसे हुआ था। भोगपुर संभवतः दक्षिण भारतका

१-उ० ७०-१३७...। २-उ० ६९-२०१...।
३-भविष्य० संधि १३।

कोई नगर था। इसी नगरमें उनके पहले प्रतिनारायण तारकका जन्म हुआ था। दक्षिण भारतमें इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रियोंका राज्य एक समय रहा था। इसलिये ही यह अनुमान ठीक है कि हरिषेण चक्रवर्तीका सम्बंध दक्षिण भारतसे था।

हरिषेण बाल्यकालसे ही धर्मरुचिको लिये हुए थे। एक रोज वह अपने पिता राजा पद्मनाभके साथ अनन्तवीर्य मुनिराजकी वंदना करने गये। मुनिराजसे उन्होंने धर्मोपदेश सुना। राजा पद्मनाभ विरक्त होकर मुनि होगये और हरिषेणने श्रावकके व्रत लिये।

जब पद्मनाभको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ तब ही हरिषेण चक्रवर्तीको चक्ररत्नकी प्राप्ति हुई। हरिषेणने पहले केवली भगवानकी वन्दना की, पश्चात् षट्खण्ड पृथ्वीको विजय किया। इस दिग्विजयमें उन्होंने निस्सन्देह दक्षिण भारतको भी विजय किया था।

हरिषेण धर्मात्मा सम्राट् थे। उन्होंने एकदा अष्टान्हिका महाव्रतकी पूजा की, जिससे उनके परिणाम धर्मरससे सिक्त होगये। उन्होंने अष्टान्हिका पर्वके अंतमें पूर्णचन्द्रको राहुग्रसित देखा, जिससे उन्हें वैराग्य होगया। अपने पुत्र महासेनको राज्य देकर उन्होंने सीमंतक पर्वतपर श्रीनाग मुनिराजके निकट दीक्षा ग्रहण करली। मुनि हरिषेणने खूब तप तपा और समाधिमरण द्वारा आयु समाप्त करके सर्वार्थसिद्धिमें अहमिन्द्रपद पाया।[1]

१–उपु० ६७–८४..........।

श्री राम, लक्ष्मण और रावण ।

भगवान मुनिसुव्रतनाथजीके तीर्थकालमें बलदेव और नारायण श्री राम और लक्ष्मण हुये थे। वे अयोध्याके राजा दशरथके सुपुत्र थे । बाल्यावस्थासे ही उनकी प्रतिभा और पौरुषका प्रकाश हुआ था। यद्यपि उनका जन्म और प्रारम्भिक जीवन उत्तर भारतमें व्यतीत हुआ था, परन्तु उनका सम्बन्ध दक्षिण भारतसे उनके उस जन्मसे भी पहलेका था और उपरात युवावस्थामें जब वे दोनों भाई वनवासमें रहे तब उनका अधिकांश समय दक्षिण भारतमें ही व्यतीत हुआ था। अच्छा, तो राम और लक्ष्मणके जीव अपने एक पूर्वभवमें दक्षिण भारतकी सुभूमि पर केलि करते थे।

पूर्व भव ।

दक्षिणके मलय देशमें एक रत्नपुर नामका नगर था। उस नगरका प्रजापति नामका राजा था। उसका एक लड़का था, जिसका नाम चन्द्रचूल था। चन्द्रचूलका प्रेम राजमंत्रीके पुत्र विजयसे था। अपने मां-बापके यह दोनों इकलौते बेटे थे। दोनोंका बेढब लाड़ प्यार होता था। लाड़प्यारकी इस अधिकताने उन्हें समुचित शिक्षासे शून्य रक्खा। मां-बापके अनुचित मोह-ममताने उनके जीवन बिगाड़ दिये। वे दोनों दुराचारी होगये।

रत्नपुरमें कुबेर नामका एक बड़ा व्यापारी रहता था। उसका बड़ा नाम और बड़ा काम था। कुबेरदत्ता उसकी कन्या थी। वह अनुपम सुन्दरी थी। युवावस्थाको प्राप्त होने पर कुबेरदत्तने अपनी उस कन्याका व्याह उसी नगरमें रहनेवाले एक दूसरे प्रख्यात् सेठ

वैश्रवणके सुपुत्र श्रीदत्तके साथ करना निश्चित किया। उधर राज-कुमार चन्द्रचूलके कान तक कुबेरदत्ताके अनुपम रूप-सौन्दर्यकी वार्ता पहुंची। वह दुराचारी तो था ही—उसने कुबेरदत्ताको अपने आधीन करनेके लिये कमर कस ली। राजकुमारका यह अन्याय देख कर वैश्य समुदाय इकट्ठा होकर राजदरबारमें पहुंचा और उन्होंने इस अत्याचारकी शिकायत महाराज प्रजापतिसे की।

महाराज प्रजापति अपने पुत्रसे पहले ही अप्रसन्न थे। इस समाचारको सुनते ही वह आग–बबूला होगये। उन्होंने न्याय–दण्डको हाथमें लिया और कोतवालको चंद्रचूल तथा उसके मित्र विजयको प्राणदण्ड देनेकी आज्ञा दी। राजाके इस निष्पक्ष न्याय और कठोर दण्डकी चरचा पुरवासियोंमें हुई। बूढ़े मंत्रीका पुत्रमोह जागा। वह नगरवासियोंको लेकर राजाकी सेवामें उपस्थित हुआ।

सबने राजासे प्रार्थना की कि 'वह अपनी कठोर आज्ञा लौटा लें'—राज्यका एक मात्र उत्तराधिकारी चंद्रचूल है, उसको प्राणदान दिया जाय।' किन्तु राजाने यह कहकर उन लोगोंकी प्रार्थना अस्वीकृत कर दी कि 'आप लोग मुझे न्यायमार्गसे च्युत करना चाहते हैं, यह अनुचित है।' सब चुप होगए। राजहठ और सो भी समुचित! किसका साहस था जो मुंह खोलता।

इस परिस्थितिमें मंत्रीने अपनी बुद्धिसे काम लिया। उन्होंने दोनों युवकोंको प्राणदण्ड देनेका भार अपने ऊपर लिया। वह अपने पुत्र और राजकुमारको लेकर वनगिरि नामक पर्वतपर गए। वहांपर महाबल नामक मुनिराज विराजमान थे। तीनों ही आगंतुकोंने उन

साधु महाराजकी वन्दना की और धर्मोपदेश सुना, जिससे उनके भाव शुद्ध होगये । उन्हें अपने पर बहुत ग्लानि हुई । अपनी करनीपर वह पछताने लगे । संसारसे उन्हें वैराग्य हुआ नाशवान जीवनमें उन्होंने अमरत्वका रस पाया । वे झटपट गुरुके चरणोंमें गिर पड़े । गुरु विशेष ज्ञानी थे, उन्होंने अपने ज्ञान—नेत्रोंसे उनका भावी अभ्युत्थान देखा । चटसे उन्होंने उन दोनों युवकोंको अपना शिष्य बना लिया । मंत्री यह देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ और अपना काम बनाकर वह रत्नपुर लौट गया ।

मुनि होकर चन्द्रचूल और विजय नये जीवनमें पहुंच गये । उनकी कायापलट होगई । अग्निमें तपकर सोना विशुद्ध होजाता है ठीक वैसे ही तपकी अग्निमें प्रवेश करके उन दोनों युवकोंकी आत्मायें अपनी कालिमा खोकर बहुत कुछ शुद्ध होगईं । किन्तु इस उच्च दशामें भी उन्हें एक कामनाने अपना शिकार बनाया । उन्होंने निदान किया कि हम दोनोंको क्रमशः नारायण और बलभद्रका ऐश्वर्यशाली पद प्राप्त हो । वह आयुके अंतमें इस इच्छाको लिये हुए मरे । मरते समय उन्होंने शुभ आराधनायें आराधीं । दोनों कुमारोंके जीव सनत्कुमार स्वर्गमें देव हुए । देव पर्यायके सुखभोगकर वे चये और अयोध्यामें राम और लक्ष्मण हुए ।

राम और लक्ष्मण । जब राम और लक्ष्मण युवक कुमार थे तब भारतपर अर्द्धबर्बर देशके रहनेवाले म्लेच्छोंका आक्रमण हुआ । राजा जनकने राम और लक्ष्मणकी सहायतासे इन म्लेच्छोंको मार भगाया था ।

युद्धमें बचे हुये म्लेच्छ अपने प्राण लेकर विंध्याचलकी पहाड़ियोंमें जा छिपे और रहने लगे। यह अर्द्धबरवर देश मध्य एशियासे ऊपरका देश अनुमानित होता है। इस देशके राजाकी अध्यक्षतामें श्याममुख, कर्दमवर्ण आदि म्लेच्छ भारतमें आये थे। इन म्लेच्छोंको मार भगानेमें राम और लक्ष्मणने खासी वीरता दर्शाई थी। जनक उन राजकुमारोंपर मोहित हुये और उन्होंने अपनी राजकुमारियोंका व्याह उनके साथ करना निश्चित कर लिया। स्वयंवर रचा गया और उसमें भी राम और लक्ष्मणने अपना धनुर्कौशल प्रगट किया। सीताने रामके गलेमें वरमाला डाली। रामचन्द्रके साथ उनका व्याह हुआ। अन्य राजकुमारी लक्ष्मणको व्याही गई। दोनों राजकुमार सानन्द कालक्षेप करने लगे।

वनवास। राम और लक्ष्मण राजा दशरथके बेटे थे। दशरथने वृद्धावस्थाको आया देखकर अपना आत्महित करना विचारा, वह संसारसे विरक्त हुये। ज्येष्ठ पुत्र रामचंद्र थे। उन्हें ही राजपद मिलना था। भरतकी माता कैकयीने भी यह बात सुनी। वह राजा दशरथके पास गई और उन्हें मुनि-दीक्षा लेनेसे रोकने लगी; परन्तु दशरथ महाराजके दिलपर वैराग्यका गाढ़ा रंग चढ़ गया था। कैकयीकी बात उनको नहीं रुची। तब कैकयीने अपनी बात कही। एक दफा युद्धमें कैकयीकी वीरतापर प्रसन्न होकर दशरथने उसे एक वचन दिया था। कैकयीने वही वचन पूरा करनेके लिये दशरथसे प्रार्थना की। दशरथ आर्य राजत्वके आदर्श थे। उन्होंने रानीसे कहा,

'खुशीसे जो चाहो मांगलो।' कैकयी प्रसन्न हुई। उसने कहा कि 'भरतको राज्य दीजिये और रामचन्द्रको बनवास।' दशरथ यह सुनकर दंग रह गये। रानीका हठ था और वह स्वयं वचनबद्ध थे। जो कैकयीने माँगा वह उन्हें देना पड़ा। परन्तु इस घटनाने उन्हें ऐसा मर्माहत किया कि वह अधिक समय जीवित न रहे। तत्काल ही घर छोड़कर मुनि होगये। भरत राजा हुये, रामचन्द्र वनवासी बने।

वनवासमें दक्षिण भारतका प्रवास।

बनवासमें रामचन्द्रजीके साथ उनकी पत्नी सीता और उनके छोटे भाई लक्ष्मण भी थे। वे दोनों रामचन्द्रजीके दुख सुखमें बराबर साथी रहे। भरतको भी रामचन्द्रसे अत्यधिक प्रेम था। वह भ्रातृप्रेमसे प्रेरित होकर उन्हें वापिस लौटा लानेके लिये वनमें गये, परन्तु रामचन्द्रने उनकी बात नहीं मानी। बल्कि बनमें ही अपने हाथसे उनका राज्याभिषेक कर दिया। भरत अयोध्या लौट आये। राम, लक्ष्मण और सीता आगे बढ़े। मालवदेशके राजाकी उन्होंने सहायता की और उसका राज्य उसे दिलवा दिया। आगे चलकर बालखिल्ल नरेशको उन्होंने विंध्याटवीके म्लेच्छोंसे छुड़ाया। वह अपने नलकूबर नगरमें जाकर राज्य करने लगा। म्लेच्छ सरदार रौद्रभूत उसका मंत्री और सहायक हुआ। इस प्रकार एक राज्यका उद्धार करके राम-लक्ष्मण आगे चले और तापी नदीके पास पहुंचे। वहाँ एक यक्षने नारायण-बलभद्रके सम्मानमें एक सुन्दर नगर रचा, जिसका नाम रामपुर रक्खा। वहाँसे चले तो वे विजयपुर पहुंचे। लक्ष्मणके

वियोगमें तड़फती वहांकी राजकुमारी वनमाला उन्हें पाकर अति प्रसन्न हुई। लक्ष्मणके समागमसे उसके प्राण बचे। यहांसे रघुकुलका अपमान करनेवाले नन्द्यावर्तके राजाको दण्ड देनेके लिये राम और लक्ष्मण गए। वह राजा उनसे परास्त होकर मुनि होगया। रामलक्ष्मण वंशधर पर्वतके निकट वंशस्थल नगरमें पहुंचे।

उस पर्वतपर रातको भयानक शब्द होते थे, जिसके कारण नगरनिवासी भयभीत थे। साहसी भाइयोंने उस पर्वतपर रात विताना निश्चित किया। वे परोपकारकी मूर्ति थे—लोकका कल्याण करना उन्हें अभीष्ट था। रातको वे पर्वतपर रहे—वहां साधु युगलकी वंदना की। उन साधुओंपर एक दैत्य उपसर्ग करता था, इसी कारण भयानक शब्द होता था। राम और लक्ष्मणने उस दैत्यका उपसर्ग नष्ट किया। उन दोनों मुनिराजोंका उपसर्ग दूर होते ही केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। उनका नाम कुलभूषण और देशभूषण था। बम्बईप्रांतीय कुंथलगिरि पर आज भी इन मुनिराजोंका स्मारक विद्यमान है। रामचंद्रजीने भी उनके स्मारक स्वरूप वहांपर कई जिनमंदिर बनवाये थे।

वहांसे आगे चलकर रामचन्द्रजी दण्डकारण्यमें पहुंचे। उस समय तक वह मनुष्यगम्य नहीं था; परन्तु रामचन्द्रजीके साहसके सामने कुछ भी अगम्य न था। वह उसमें प्रवेश करके एक कुटिया बनाकर रहने लगे। वहीं उन्होंने दो चारण मुनियोंको आहारदान दिया, जिसकी अनुमोदना एक गिद्ध पक्षीने भी की। राम लक्ष्मणके साथ रहकर वह श्रावकाचार पालने लगा। रामने इसका नाम जटायु रक्खा। दण्डकवनमें आगे घुसकर राम और लक्ष्मणने क्रौंचवा नदी

पार की और वे दण्डकगिरिके पास जाकर ठहरे । वहां उन्होंने नगर बसाकर रहना निश्चित कर लिया था ।

इसका अर्थ यह होता है कि वे वहां अपना उपनिवेश स्थापित करके रहना चाहते थे । किन्तु वहां एक अघटित घटना घट गई । लक्ष्मणके हाथमें धोखेमें खरदूषणके पुत्र शम्बुकी मृत्यु होगई । खरदूषणने राम-लक्ष्मणसे युद्ध ठान दिया । रावणका वह बहनोई था । उसने उसके पास भी सहायताके लिये समाचार भेज दिये । राम और लक्ष्मण नर-पुंगव थे । वे इस आपत्तिको देखकर जरा भी भयभीत नहीं हुये । राम युद्धके लिये उद्यत हुये, परन्तु लक्ष्मणने उन्हें जाने नहीं दिया । वह स्वयं युद्ध लड़ने गये और कह गये कि यदि मैं सिंहनाद करूं तो मेरी सहायताको आइये । राम और लक्ष्मण वीर पुरुष थे उनका पुण्य अक्षय था । खरदूषणका शत्रु विराधित उनकी सहायता करनेके लिये स्वयं आ उपस्थित हुआ ।

रावण ।

खरदूषणका आशा भरोसा लंकाका राजा रावण था । रावणने तीनखंड पृथ्वीको जीतकर अपना पौरुष प्रगट किया था । वह बड़ा ही क्रूर परन्तु पराक्रमी था । उसने अनेक विद्यायें सिद्ध की थीं । वह राक्षस नामक विद्याधरोंके राजवंशका अग्रणी था । असुरसंगीत नगरके राजा मयकी पुत्री मन्दोदरी रावणकी पटरानी थी । रावणने दिग्विजयमें दक्षिणभारतके देशोंको भी अपने आधीन बनाया था । रावणके सहायक हैहय, टंक, किहिकन्ध, त्रिपुर, मलय, हेम, कोल आदि देशोंके राजा थे । रावण अपनी दिग्विजयमें विंध्याचलपर्वतसे

होता हुआ नर्मदाके तटपर आया था और वहां डेरा डाले थे। वह जिनेन्द्रभक्त था। इस संग्रामक्षेत्रमें भी वह जिनपूजा करना नहीं भूलता था। रावणने जिस स्थानपर पड़ाव डाला था, वहांसे कुछ दूरीपर माहिष्मती नगरीका राजा सहस्त्ररश्मि जलयंत्रके द्वारा जल बांधकर अपनी रानियों सहित क्रीड़ा कर रहा था। अकस्मात् बंधा हुआ जल टूट गया और नर्मदामें बेढब बाढ़ आनेसे रावणकी पूजामें भी विघ्न पड़ा। रावणने सहस्त्ररश्मिको पकड़नेके लिये आज्ञा दी।

रावणके योद्धा चले और वायुयानोंपरसे युद्ध करने लगे, जिसे देवोंने अन्याय बताया, क्योंकि सहस्त्ररश्मि भूमिगोचरी था, उसके पास वायुयान नहीं थे।* हठात् रावणके योद्धा पृथ्वीपर आये और सहस्त्ररश्मिसे युद्ध करने लगे। सहस्त्ररश्मि ऐसी वीरतासे लड़ा कि रावणकी सेना एक योजन पीछे भाग गई।

यह देखकर रावण स्वयं युद्ध क्षेत्रमें आया। उसके आते ही संग्रामका पासा पलट गया। उसने सहस्त्ररश्मिको जीता पकड़ लिया किन्तु मुनि शतबाहुके कहनेसे रावणने उन्हें छोड़ दिया और अपना सहायक बनाना चाहा, परन्तु वह मुनि होगये। इस दिग्विजयमें रावण जहां जहां जाता वहां वहां जिनमंदिर बनवाता था, अथवा उनका जीर्णोद्धार कराता था और हिंसकोंको दण्ड तथा दरिद्रियोंको दाम देकर संतुष्ट करता था। दक्षिण भारतके पूर्वी पर्वत आदि

* इससे स्पष्ट है कि रावण भारतवर्षका निवासी नहीं था, उसकी लंका भारतवर्षके बाहर कहींपर थी, यह अनुमानित होता है। विशेषके लिये 'भगवान पार्श्वनाथ' नामक पुस्तक देखिये।

स्थानोंपर उसने जिन मूर्तियां स्थापित कराई थीं ×। इस प्रकार रावणने अपना प्रताप चहुंओर छिटका रक्खा था। खरदूषणने उसको अपनी सहायताके लिये बुलाया। और वह आया भी। मार्गमें आते हुये रावणने सीताको देखा। वह उसके रूप-सौन्दर्यपर मुग्ध होगया। धोखा देकर वह सीताको हरकर लंका लेगया। राम और लक्ष्मण जब युद्धमे लौटे तो उन्होंने सीताको नहीं पाया। वे उनके वियोगमें आकुल-व्याकुल होगये और उनकी तलाशमें वन-वन भटकने लगे।

राम-रावण युद्ध। वाली द्वीपमें वानरवंशी विद्याधर राजा रहते थे। उनके वंशज वहांसे राज्यच्युत होकर दक्षिण भारतमें आ रहे। किष्किन्धापुर उनकी राजधानी थी। तब वहां सुग्रीव नामका राजा राज्य करता था। रामचंद्रने उसकी सहायता करके उसे अपना मित्र बनाया। सुग्रीवने सीताका पता लगानेके लिये शपथ की और वह उस कार्यमें सफल हुआ। राम और लक्ष्मणको पता चल गया कि सीता रावणके यहां लंकामें है। लक्ष्मणने दक्षिण भारतकी कोटिशिलाको घुटनोंतक उठाकर अपने अतुल बलका परिचय विद्याधर राजाओंको दिया; जिससे वे रामका साथ देकर रावणसे लड़नेके लिये तत्पर होगये।

अब हनुमानजीको सीताके समाचार लेनेके लिये भेजा गया। वह दक्षिण भारतके महेन्द्र पर्वतपरसे होकर लंका गये थे। वहां

× कथा० ९-९-१।

पहुंचकर सीताजीसे मिले और रावण एवं उसके परिजनोंको समझाया; परन्तु रावणने एक न मानी। हनुमानजी लौटकर रामके पास आये और सब समाचार कह सुनाये। इसपर राम और लक्ष्मणने रावणपर आक्रमण किया और भयानक युद्धके उपरान्त लक्ष्मणके हाथसे रावणका वध हुआ। सीता रामको मिली। लंकाका राज्य विभीषणको दिया गया।

राम और लव-कुश। राम, लक्ष्मण और सीता वनवासका काल व्यतीत करके अयोध्या लौट आये। राम राजा हुये और सानंद राज्य करने लगे। भरत मुनि होगये। रामने सीताको घरमें वापस रख लिया, इस बातको लेकर प्रजाजन उच्छृंखल होने लगे। इस पर रामने सीताको बनवासका दंड दिया। सीता गर्भवती थी, बनमें असहाय खड़ी थी कि पुण्डरीकपुरके वज्रजंघ राजाने उसकी सहायता की। वह सीताको अपने नगर लिवा लेगया और धर्मभगिनीकी तरह उसे रक्खा। वहां सीताके लव और कुश नामक दो प्रतापी पुत्र हुये। युवावस्था प्राप्त करके वह दिग्विजय करनेके लिये निकले।

पोदनपुरके राजाके साथ इनकी मित्रता होगई और ये उसके साथ अनेक देश देशांतरोंको विजय करनेमें सफल हुए। आंध्र, केरल, कलिंग आदि दक्षिण भारतके देशोंको भी इन्होंने जीता था, परन्तु अयोध्या तक वह नहीं पहुंचे थे। नारदने राम लक्ष्मणका वृतांत दोनों भाइयोंसे कहा, जिसे सुनकर वे क्रोधित हो उनपर सेना लेकर चढ़ गये। पिता-पुत्रोंका युद्ध हुआ, किन्तु क्षुल्लक सिद्धार्थने उनमें

परस्पर संधि करादी। लव कुश अयोध्यामें पहुंचे। सीताकी अग्नि परीक्षा हुई जिसमें उनकी सहायता देवोंने की। रामने सीतासे घर चलनेकी प्रार्थना की, परन्तु उन्होंने उसे अस्वीकार किया और पृथ्वीमति आर्यिकाके निकट साध्वी होगई। साध्वी सीताकी वन्दना राम लक्ष्मणने की। इस प्रकार दक्षिण भारतमें राम और लक्ष्मणका सम्पर्क था।*

राजा ऐलेय और उसके वंशज।

भगवान मुनिसुव्रतनाथजीके समयमें सुव्रतके पुत्र दक्ष नामके राजा हुये थे। यह हरिवंशी क्षत्रिय थे। उनकी रानीका नाम इला था। उनसे राजा दक्षके ऐलेय नामका पुत्र और मनोहरी नामक पुत्री हुई थी। पुत्री अतिशय रूपवती थी। राजा दक्ष स्वयं अपनी पुत्रीपर आसक्त था। उसने धर्ममर्यादाको तोड़ करके मनोहरीको अपनी पत्नी बना डाला! इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि दक्षके विरोधी स्वयं उसके परिजन होगये। रानी इला अपने पुत्र ऐलेयको सरदारों सहित लेकर विदेशको चल दी। अनीतिपूर्ण राज्यमें कौन रहे? दुर्ग देशमें पहुंचकर उन्होंने इलावर्द्धननगर बसाया और वहां ही वे रहे। ऐलेय हरिवंशका [illegible] प्रकाशित हुआ। इसने अपने शौर्य और [illegible] और [illegible] के लिये वह नर्मदातट पर आया।

वहां उसने माहिष्मती नगरीका नींवारोपण किया। वहीं उसकी

* उपु० पर्व ६७ व प्राजैस्मा० भा० २ पृ० ९०-१९०।

राजधानी रही। कई देशोंको जीतकर ऐलेयने धर्मराज्य किया। वृद्धावस्थामें वह अपने कुणिम नामक पुत्रको राज्य देकर तपके लिये वनमें चला गया। शत्रुओंको संताप देनेवाले राजा कुणिमने विदर्भ-देशमें वरदा नदीके किनारे एक कुंडिनपुर नामका नगर बसाया। कुणिमके पश्चात् उनका पुत्र पुलोम राजा हुआ, जिसने पौलोमपुर नामका नगर बसाया। इनके पौलोम और चरम नामक दो पुत्र थे। पुलोमके मुनि होनेपर वे ही राजा हुये। उन्होंने कई राजाओंको जीता था। दोनोंने मिलकर रेवानदीके किनारे इन्द्रपुर बसाया और चरमने जयन्ती और वनवास नामक दो नगर प्रथक् बसाये।

उपरान्तकालमें यह दोनों नगर दक्षिणभारतके इतिहासमें खूब ही प्रसिद्ध हुये थे। राजा चरमका पुत्र संजय और पौलोमका महीदत्त हुआ। उनके उपरान्त वे ही राज्याधिकारी हुये। महीदत्तने कल्पपुर बसाया। अरिष्टनेमी और मत्स्य ये दो उनके पुत्र थे। राजा मत्स्यने भद्रपुर और हस्तिनापुरको जीत लिया और वह हस्तिनापुर आकर राज्य करने लगा था। उसके पश्चात अयोधन नामका राजा हुआ, जिसकी सन्तान [illegible] राज्य [illegible] थी। इन्हीं [illegible] कथा [illegible] था [illegible] नहीं [illegible] है।

राजा अभिचन्द्रका विवाह उग्रवंशमें उत्पन्न रानी वसुमतीसे हुआ था। इन्हीका पुत्र वसु था; जिसने जिह्वालम्पटताके वश हो 'अज' शब्दका अर्थ 'शालि' न बताकर 'बकरा' बताया और यज्ञोंमें

हिंसाको स्थान दिया था। इस प्रकार दक्षिणापथके एक प्राचीन नगरसे वेदोंमें हिंसक विधानोंको स्थान मिला था जैसे कि पहले भी लिखा जाचुका है। राजा वसुके पुत्र सुवसु और बृहद्ध्वज वहां न रह सके। सुवसु भागकर नागपुरमें जारहा और बृहद्ध्वज मथुरामें आ बसा! जिसके वंशमें प्रतापी राजा यदु हुआ था।*

कामदेव नागकुमार।

कनकपुरके पास राजा जयन्धर थे। उनकी एक रानी विशालनेत्रा थी, जिससे उनके एक पुत्र श्रीधर नामका था। एक रोज जयन्धर राजासे किसी वणिकने आकर कहा कि सौराष्ट्रदेशस्थ गिरिनगरके राजाकी पृथ्वीदेवी नामकी कन्या अति सुन्दरी है, जिसे वह राजा उन्हें व्याहनेके लिये उत्सुक है। जयन्धर यह समाचार सुनकर प्रसन्न हुआ और उनका विवाह पृथ्वीदेवीके साथ होगया। कालान्तरमें रानी पृथ्वीदेवीके एक महा भाग्यशाली और परम रूपवान पुत्र हुआ, जिसका नाम उन्होंने प्रजाबंधु रक्खा। किन्तु उस नवजात शिशुके साथ एक अद्भुत घटना घटित हुई। वह किसी तरह राजधायके हाथोंसे निकलकर नागलोगोंकी पल्लीमें जा पहुंचा।

नाग-सरदारने उस शिशुको बड़े प्यारसे पाला, पोषा और उसे शस्त्रास्त्रमें निष्णात बना दिया। भारतीय साहित्यमें इन नागलोगोंका वर्णन अलंकृत रूपमें है। उसमें इनको वापियों और कुओंमें

* हरि० सर्ग १७ संभवत: निजाम राज्यका अकादुर्ग नामक स्थान इकावर्द्धन नगर है। कहते हैं वहां हजारों जिनमूर्तियां जमींदोस्त हैं।

रहते लिखा है तथा इन्हें सर्प अनुमान किया है। वास्तवमें इसका भाव यही है कि वे मनुष्य थे। विद्वानोंका कथन है कि भारतवर्षके आदि निवासी असुर जातिसे नागलोगोंका सम्पर्क था। उनका ध्वजचिह्न सर्प था और वे ब्राह्मणोंको मान्यता नहीं देते थे। एक समय वे सारे भारत ही नहीं बल्कि मध्य ऐशिया तक फैले हुये थे।

नर्मदा तटपर उनका अधिक आवास था। उनमें जैनधर्मका प्रचार एक अति प्राचीनकालसे था। तामिल देशके शास्त्रकारोंने दक्षिण भारतके प्राचीन निवासियोंमें नाग लोगोंकी गणना की है। ऐतिहासिक कालमें नागराजाओंकी कन्याओंके साथ पल्लववंशके राजाओंके विवाह सम्बन्ध हुए थे। तामिल देशका एक भाग नाग लोगोंकी अपेक्षा नागनाडु कहलाता था। जैन पद्मपुराणमें नागकुमार विद्याधरोंका भी उल्लेख है।

राजा जयंधरके पुत्र इन्हीं नाग लोगोंके एक सरदारके यहां शिक्षित और दीक्षित हुए थे। संभव है, इसी कारण उनका अपरनाम नागकुमार था। उनका सम्बंध अवश्य नागोंसे रहा था। 'विष्णुपुराण' में नौ नागराजाओंमें भी एक नागकुमार नामक थे। परन्तु यह स्पष्ट नहीं कि वह हमारे नागकुमारसे अभिन्न थे। नाग लोग अपने रूप सौंदर्यके लिये प्रसिद्ध थे। सुन्दर कन्याको 'नागकन्या' कहना लोकप्रचलित रहा है। नागकुमार भी अपने अलौकिक रूपके कारण स्वयं कामदेव कहेगये हैं।

दक्षिण भारतकी अन्य राजकन्याओंसे उनका विवाह हुआ प्रगट है, परन्तु पल्लव देशकी राजकन्याओंको उन्होंने नहीं व्याहा था। शायद इसका कारण यही हो कि स्वयं नागकन्यायें पल्लवोंको व्याही गई थीं। यह सब बातें कुछ ऐसी हैं जो नाग लोगोंसे नागकुमारकी घनिष्टताको ध्वनित करती हैं। होसकता है कि वे नाग वंशज ही हों।*

जो हो, युवा होनेपर नागकुमार अपने माता-पिताके पास कनकपुर लौट आये और वहां सानंद रहने लगे। किन्तु उनके सौतेले भाई श्रीधरसे उनकी नहीं बनी। भाइयोंकी इस अनबनको देखकर राजा जयंधरने थोड़े समयके लिये नागकुमारको दूर हटा दिया। ज्येष्ठ पुत्र श्रीधर था और उसीका अधिकार राज्यपर था। नागकुमार मथुरा जापहुंचा। वहांके राजकुमारों–व्याल और महाव्यालसे उसकी मित्रता होगई। उनके साथ नागकुमार दिग्विजयको गया। और बहुतसे देशोंको जीता एवं राजकन्याओंको व्याहा।

महाव्यालके साथ नागकुमार दक्षिण भारतके किष्किन्धमलय देशस्थ मेघपुरके राजा मेघवाहनके अतिथि हुए। राजा मेघवाहनकी पुत्रीको मृदंगवादनमें परास्त करके नागकुमारने उसे व्याहा। फिर मेघपुरसे नागकुमार तोयावलीद्वीपको गये। वहांसे लौटकर वह पांड्य देश आये थे। पांड्य नरेशने उनकी खूब आवभगत की थी।

---

* नाग लोगोंके विषयमें जाननेके लिये हमारी 'भगवान पार्श्वनाथ' पुस्तक तथा 'णायकुमार चरिउ' (कारंजा)की भूमिका देखिये।

उनसे विदा होकर वह आंध्र देश पहुंचे। ऐसे ही घूमते हुये आखिर राजा जयन्धरने उन्हें बुला भेजा और उनका राज्याभिषेक कर दिया।

नागकुमार राजाधिराज हुये और नीतिपूर्वक उन्होंने काल-विशेष तक राज्यशासन किया। वृद्धावस्थाके निकट पहुंचने पर उन्होंने राज्यभार अपने पुत्र देवकुमारको सौंपा और स्वयं दिगम्बर मुनि हो तप तपने लगे। व्याल, महाव्याल, अच्छेद्य और अभेद्य नामक राजकुमारोंने भी उनके साथ मुनिव्रत धारण किया था। तपश्चरण द्वारा कर्मोका नाश करके वे पांचों ऋषिवर ऋष्यप्रद नामक पर्वतसे मोक्षधाम सिधारे थे।

संक्षिप्त जैन इतिहास।

(भाग ३ खण्ड १)

दक्षिण भारतका इतिहास।

दक्षिण भारतका ऐतिहासिक-काल।

(प्राचीन खण्ड)

भारतके इतिहासका प्रारम्भ।

भारतवर्षके इतिहासका प्रारम्भ कबसे माना जाय? यह एक ऐसा प्रश्न है कि जिसका ठीक उत्तर आजतक नहीं दिया जासका है। विद्वानोंका इस विषयपर भिन्न मत है। भारतीय विद्वान आर्य सभ्यताकी जन्मस्थली भारतभूमि मानते हैं और उसके इतिहासका आरम्भ एक कल्पनातीत समयसे करते हैं। जैन शास्त्र भी इसी मतका प्रतिपादन करते हैं, किन्तु उनके कथनमें यह विशेषता है कि वे भारतभूमिका आदि धर्म जैनधर्म और प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव द्वारा संस्थापित सभ्यताको आदि सभ्यता प्रगट करते हैं। जैन शास्त्रोंके इस कथनका समर्थन आधुनिक ऐतिहासिक खोजसे भी होता है। प्रो० हेल्मुथ फॉन ग्लासनप्प सदृश यूरोपीय विद्वान जैनधर्मको ही भारतका सर्व प्राचीन धर्म घोषित करते हैं।[१] उधर भारतीय पुरातत्वसे यह स्पष्ट है कि वैदिक (ब्राह्मण) आर्योंके अतिरिक्त और उनसे पहले भारतवर्षमें एक सभ्य और संस्कृत जातिके लोग निवास करते थे। वे लोग असुर, द्राविड, नाग आदि नामोंसे विख्यात थे और उनमें जैनधर्मका प्रवेश एक अत्यंत प्राचीनकालमें ही होगया था। जैनोंके प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव सुर, असुर, नाग आदि द्वारा

१-Der Tainismus

पूजित प्राचीन जैन शास्त्रोंमें कहे गये हैं।[1] और यह हम पहले ही देख चुके हैं कि भारतके आदि निवासी असुर ही वैदिक आर्योंसे प्राचीन मनुष्य हैं जो भारतवर्षमें रहते थे। सिंधु उपत्यकाकी सभ्यता उन्हीं लोगोंकी सभ्यता थी और वहांकी धर्मउपासना जैन धर्मसे मिलती जुलती थी। किन्तु इस मान्यताके विरुद्ध भी एक विद्वत्समुदाय है, जिसमें अधिकांश भाग यूरोपीय विद्वानोंका है। वे लोग भारतको आर्योंका जन्मस्थान नहीं मानते। उनका कहना है कि वैदिक आर्य भारतमें मध्य एशियासे आये और उन्होंने यहांके असुर दास आदि मूल निवासियोंको परास्त करके अपना अधिकार और संस्कार प्रचलित किया।

इस घटनाको वे लोग आजसे लगभग पांच छै हजार वर्ष पहले घटित हुआ प्रगट करते हैं और इसीसे भारतीय इतिहासका प्रारम्भ करते हैं।[2] किंतु सिन्धु उपत्यकाका पुरातत्व भारतीय इतिहासका आरम्भ उक्त घटनासे दो-चार हजार वर्ष पहले प्रमा-

१-'सुर असुर गरुल महिया, चेइयरुक्खा जिणवराण ॥६-१८॥'

—समवायाङ्ग सूत्र।

"एस सुरासुरमणुसिंद, वंदिदं धोदघाइकम्ममलं।
पणमामि वड्ढमाणं, तित्थं धम्मस्स कत्तारं॥ १॥"

— प्रवचनसार।

कर्मान्तकृन्महावीरः सिद्धार्थकुलसंभवः।
एते सुरासुरौघेण पूजिता विमलत्विषः॥ ९॥

— देवशास्त्रगुरुपूजा।

२-अहिइं० पृ० ४-२९.

णित करता है। हां, यह अवश्य है कि उस समयका ठीक हाल हमें कुछ भी ज्ञात नहीं है। उसको ढूंढ निकालनेके लिये समय और शक्ति अपेक्षित है। किंतु यह स्पष्ट है कि भारतीय इतिहासका जो आदिकाल योरुपीय विद्वान मानते हैं वह ठीक नहीं है।

दक्षिण भारतका इतिहास।

यह तो हुई समूचे भारतके इतिहासकी बात; परन्तु हमारा सम्बन्ध यहांपर दक्षिण भारतके इतिहाससे है। हमें जानना है कि दक्षिण भारतका इतिहास कबसे आरम्भ होता है, और उसमें जैनधर्मका प्रवेश कबसे हुआ? यह तो प्रगट ही है कि दक्षिण भारत समूचे भारतसे पृथक नहीं था और इस दृष्टिसे जो बात उत्तर भारतके इतिहाससे सम्बद्ध है वही बात दक्षिण भारतके इतिहासमें लागू होना चाहिये। साधारणतः यह कथन ठीक है और विद्वान यह प्रगट भी करते हैं कि एक समय सारे भारतमें वे ही द्राविड़ लोग मिलते थे जो उपरांत दक्षिण भारतमें ही शेष रहे।[१] किंतु दक्षिण भारतकी अपनी विशेषता भी है। वह उत्तर भारतसे अपना पृथक् अस्तित्व भी रखता है और वहां ही आज प्राचीन भारतके दर्शन होते हैं।[२] मैसूरके चन्द्रहल्ली

१-ऑइ०, पृष्ठ २३-"Step by step the Dravidians receded from Northern India, though they never left it altogather."

२-"India, south of the Vindhyas—the Peninsular India—still continues to be India proper. Here the bulk of the people continue distinctly

नामक स्थानमें मोहन जोदड़ो जैसी और उतनी प्राचीन सामग्री उपलब्ध हुई । बस, जब हम उसके स्वतंत्ररूपमें दर्शन करते हैं और उसके इतिहासका प्रारम्भिक काल टटोलते हैं तो वहां भी धुँधला प्रकाश ही मिलता है । विद्वानोंका तो कथन है कि दक्षिण भारतके इतिहासका यथार्थ वर्णन दुर्लभ है । सर विन्सेन्ट स्मिथने लिखा था कि 'दूरवर्ती दक्षिण भारतके प्राचीन राज्य यद्यपि धनजन सम्पन्न और द्राविड़ जातिके लोगोंसे परिपूर्ण थे, परन्तु वे इतने अप्रगट थे कि शेष दुनियांको—स्वयं उत्तर भारतके लोगोंको उनके विषयमें कुछ भी ज्ञान न था । भारतीय लेखकोंने उनका इतिहास भी सुरक्षित नहीं रक्खा । परिणामतः आज वहांका ईस्वी आठवीं शताब्दिसे पहलेका इतिहास उपलब्ध नहीं है।'[१] एल्फिन्सटन सा०

to retain their pre-Aryan features; their pre-Aryan languages, their pre-Aryan institutions."—Pillai's Tamil Antiquities. जैनशास्त्रमें भी कहा गया था कि इस कालमें दक्षिणभारतमें ही जैनधर्म जीवित रहेगा । क्या यह उसके प्राचीन रूपका द्योतक है ?

१-"The ancient kingdoms of the far south, although rich and populous, inhabited by Dravidian nations......were ordinarily so secluded from the rest of the civilised world, including northern India, that their affairs remained hidden from the eyes of other nations and native annalists being lacking, their history previous to the year 800 of the christian era, has almost wholly perished......" —EHI. p. 7.

ने स्पष्ट लिखा था कि प्राचीनकालमें दक्षिण भारतकी राजनैतिक घटनाओंका सम्बन्धित विवरण लिखा ही नहीं जा सकता। आज भी यह कथन एक हदतक ठीक है।[1]

परन्तु इस दरमियानमें जो ऐतिहासिक खोज और अन्वेषण हुये हैं, उनके आधारसे दक्षिण भारतका एक क्रमबद्ध ऐतिहासिक विवरण ईस्वी प्रारंभिक शताब्दियोंसे लिखा जा सकता है। किंतु वह समय दक्षिण भारतके इतिहासका आरम्भ-काल नहीं कहा जा सकता। भले ही ईस्वी पूर्व शताब्दियोंके दक्षिण भारतका क्रमबद्ध विवरण न मिले, परन्तु उसकी सभ्यता और संस्कृतिके अस्तित्व और अभ्युत्थानका पता बहुत समय पहले तक चलता है। सिंधु उपत्यकाका पुरातत्व और वहांकी सभ्यता द्राविड़ सभ्यतासे मिलती जुलती थी।[2] चन्द्रहल्लीका पुरातत्व इसका साक्षी है। सुमेरु जातीय लोगोंमें भी द्राविड़ोंका सादृश्य था। और यह सुमेरु लोग सिंधु-सुवर्ण अथवा सिंधु सुवीर देशके मूल अधिवासी थे। सु-राष्ट्र या सोराष्ट्रसे ही जाकर वे मेसोपोटमिया आदि देशोंमें बस गये थे। गुजरातके जैनी वणिक इस सु-वर्ण जातिके ही वंशज अनुमान किये जाते हैं।[3] सिंधु, सुमेरु और द्राविड़-इन तीनों जातियोंकी सभ्यता और संस्कृतिका सादृश्य उन्हें सम-सामायिक सिद्ध करता है। इसलिये द्राविड़ देश अर्थात् दक्षिण भारतका इतिहास उतना ही प्राचीन है जितना कि सुमेरु जातिका है; बल्कि संभव तो यह

१-Ibid. २-मोद० भा० १ पृ० १०९। ३-विभा० भा० १८ अंक ५ पृ० ६३१।

है कि वह उनसे भी प्राचीन हो क्योंकि सुमेरु लोगोंने भारतसे जाकर मेसोपोटेमियामें उर्रानवंशकी नींव डाली थी।

महाराष्ट्र, निजाम हैदराबाद और मद्रास प्रान्तमें ऐसे प्राचीन स्थान मिलते हैं जो प्राग् ऐतिहासिक कालके अनुमान किये गये हैं और वहांपर एक अत्यंत प्राचीन समयके शिलालेख भी उपलब्ध हुये हैं। यह इस बातके सबूत हैं कि दक्षिण भारतका इतिहास ईस्वी प्रारम्भिक शताब्दियोंसे बहुत पहले आरम्भ होता है। उधर प्राचीन साहित्य भी इसी बातका समर्थक है। तामिल साहित्यके प्राचीन काव्य 'मणिमेखले' और 'सीलप्पद्धिकारम्' में एवं प्राचीन व्याकरण शास्त्र 'थोलप्पकियम्' में दक्षिण भारतके खूब ही उन्नत और समृद्धिशाली रूपमें दर्शन होते हैं और यह समय ईसासे बहुत पहलेका था। अतः दक्षिण भारतके इतिहासको उत्तर भारत जितना प्राचीन मानना ही ठीक है!

अब जरा यह देखिये कि दक्षिण भारतमें जैनधर्मका प्रवेश कब हुआ? इस विषयमें जैनियोंका जो मत है वह पहले ही लिखा जाचुका है। उनका कथन है कि भगवान ऋषभदेवके समयमें ही जैनधर्म दक्षिण भारतमें पहुंच गया था। उधर हिन्दू पुराणोंकी साक्षीके आधारसे हम यह देख ही चुके हैं कि देवासुर संग्रामके समय अर्थात् उस प्राचीन कालमें जब भारतके मूल निवासियोंमें ब्राह्मण आर्य अपनी वैदिक सभ्यताका प्रचार कर रहे थे, जैनधर्मका केन्द्र दाक्षिण पथके नर्मदा

दक्षिण भारतमें जैनधर्मका प्रवेश।

तटपर मौजूद था। जैन मान्यता भी इसके अनुकूल है। उसमें नर्मदा तटको एक तीर्थ माना है और वहांसे अनेक जैन महापुरुषोंको मुक्त हुआ प्रगट किया है।[1] वैसे भी हिंदू पुराणोंके वर्णनसे नर्मदा तटकी सभ्यता अत्यंत प्राचीन प्रमाणित होती है यद्यपि अभी तक वहांकी जो खुदाई हुई है उसमें मौर्यकालसे प्राचीन कोई वस्तु नहीं मिली है।[2] होसक्ता है कि नर्मदा तटका वह केन्द्रीय स्थान अभी अप्रगट ही है कि जहां उसकी प्राचीनताकी द्योतक अपूर्व सामग्री भूगर्भमें सुरक्षित हो।

सारांश यह कि जैन ही नहीं बल्कि प्राचीन भारतीय मान्यतानुसार जैनधर्मका प्रवेश दक्षिणभारतमें एक अत्यन्त प्राचीनकालमें प्रमाणित होता है; परन्तु आधुनिक विद्वज्जन मौर्यकालमें ही जैन धर्मका प्रवेश दक्षिणभारतमें हुआ प्रगट करते हैं।[3] वे कहते हैं कि सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्यके गुरु श्रुतकेवली भद्रबाहुने जब उत्तरभारतमें बारहवर्षका अकाल होता जाना तो वे संघ सहित दक्षिणभारतको चले आये और उन्होंने ही यहांकी जनताको जैनधर्ममें सर्व प्रथम दीक्षित किया। इसके विपरीत कोई कोई विद्वान् जैनधर्मका प्रवेश दक्षिणभारतमें इससे किंचित् पहले प्रगट करते हैं। उनका कहना है कि जब लंकामें जैनधर्म इस घटनासे पहले अर्थात् ईस्वीपूर्व पांचवी शताब्दिमें ही पहुंचा हुआ मिलता है तो कोई वजह नहीं कि तब

१–नवग्रह अरिष्ट निवारक विधान पृ० ४१।
२–'सरस्वती' भाग ३८ अंक १ पृष्ठ १८–१९।
३–अहिइं० पृ० १९४, कैहिइं, पृ० १६५, कजिं०, पृ० १८।

उसका अस्तित्व दक्षिणभारतमें न माना जावे।[1] आन्ध्रदेशमें जैन धर्म प्राङ् मौर्यकालमें प्रचलित हुआ प्रगट किया ही जाता है।[2] किन्तु हमारे विचारमें जैनधर्मका प्रवेश इस कालसे भी बहुत पहले दक्षिणभारतमें होचुका था।

उपरोक्त साक्षीके अतिरिक्त प्राचीन जैन और तामिल साहित्य तथा पुरातत्व इस विषयमें हमारा समर्थन करते हैं। पहले ही जैन साहित्यको लीजिये। उसमें बराबर श्री ऋषभदेवके समयसे दक्षिण-भारतका उल्लेख मिलता है, जैसे कि पौराणिक कालके वर्णनमें लिखा जाचुका है। और आगेके पृष्ठोंमें और भी लिखा जायगा। सचमुच जैनोंको लक्ष्य करके जैन ग्रंथोंमें दक्षिणभारतके पल्लवदेश, दक्षिणम-

१-"If this information (of the 'Mahavamsa') could be relied upon, it would mean that Jainism was introduced in the island of Ceylon, so early as the fifth century B. C. It is impossible to conceive that a purely North Indian religion could have gone to the island of Ceylon without leaving its mark in the extreme south of India, unless like Buddhism it went by sea from the north."—Studies in South Indian Jainism,
—Pt. I p. 33.

२-Jainism in the Andhra desh, at least, was probably pre-Mauryan......"
—Ibid., Pt. II. p. 2.

३-वृ० पृ० ६०९।

थुरा,[1] पोलासपुर,[2] भद्दिलै, महाशोकनगर[3] इत्यादि स्थानोंका प्राचीन वर्णन मिलता है। दक्षिणमथुराको स्वयं पाण्डवोंने बसाया था। पल्लवदेशमें भगवान अरिष्टनेमिका विहार हुआ था, जैसे कि हम आगे देखेंगे। ये ऐसे उल्लेख हैं जो दक्षिणभारतमें जैनधर्मके अस्तित्वको भद्रबाहु स्वामीसे बहुत पहलेका प्रमाणित करते हैं।

यही बात तामिल साहित्यसे सिद्ध होती है। तामिल साहित्यमें मुख्य ग्रन्थ "संगम-काल" के हैं, जिसकी तिथिके विषयमें भिन्न मत हैं। माननीय पंडित उस कालको ईस्वीसनसे हजारों वर्षों पहले लेजाते हैं; किन्तु आधुनिक विद्वान् उसे ईस्वीसनसे चार-पांचसौ वर्ष पहले ईस्वी प्रथम शताब्दितक अनुमान करते हैं।[5] यह जो भी हो, पर इतना तो स्पष्ट ही है कि 'संगमकाल' के ग्रंथ प्राचीन और प्रमाणिक हैं। इनमें 'तोल्काप्पियम' नामक ग्रन्थ सर्व प्राचीन है। इसका रचनाकाल ईस्वीपूर्व चौथी शताब्दि बताया जाता है और यह भी कहा जाता है कि यह एक जैन रचना है।[6] इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि जैनधर्मका प्रचार तामिलदेशमें मौर्यकालसे पहले होचुका था। तामिलके प्रसिद्ध काव्य 'मणिमेखलै' और 'सीलप्पद्दिकारम' हैं और यह क्रमशः एक बौद्ध और जैन लेखककी रचनायें हैं। इनमें जैनधर्मका खास वर्णन मिलता है। बौद्धकाव्य 'मणिमेखलै' से

१–ज्ञातृधर्म कथांग सूत्र पृ० ६८० व हपु० पृ० ४८७। २–अंतगडदशांग सूत्र पृष्ठ २२। ३–अन्तगडदशांग सूत्र पृ० ११। ४–भगवती पृष्ठ १९५८। ५-बुस्ट्ट० (Budhistic Studies) पृष्ठ ६७१। ६–बुस्ट०, पृ० ६७४ और जैसाइं० भा० १ पृ० ८९।

स्पष्ट है कि उसके समयमें जैनधर्म तामिल देशमें गहरी जड़ पकड़े हुवे था। वहां जैनियोंके विहारों और मठोंका वर्णन पदपदपर मिलता है। जनतामें जैन मान्यताओंका घर कर जाना उसकी बहु प्राचीनताकी द्योतक है।[१] 'शीलप्पदिकारम्' भी इसी मतका पोषक है।[२]

उपलब्ध पुरातत्व भी हमारे इस मतकी पुष्टि करता है कि जैनधर्म दक्षिण भारतमें एक अत्यंत प्राचीनकालमें पहुंच गया था। जैन ग्रन्थ 'करकंडु चरित' में जिन तेरापुर धाराशिव आदि स्थानोंकी जैन गुफाओं और मूर्तियोंका वर्णन है, वे आज भी अपने प्राचीन रूपमें मिलती हैं। उनकी स्थापनाका समय भ० पार्श्वनाथ (ई० पू० ८ वीं शताब्दि) का निकटवर्ती है।[३] इसलिये उन गुफाओं और मूर्तियोंका अस्तित्व दक्षिण भारतमें जैनधर्मका अस्तित्व तत्कालीन सिद्ध करता है।

इसके अतिरिक्त मदुरा और रामनद जिलोंमें ब्राह्मी लिपिके प्राचीन शिलालेख मिलते हैं। इनका समय ईस्वी पूर्व तीसरी शताब्दि अनुमान किया गया है। इनके पास ही जैन मंदिरोंके अवशेष और तीर्थंकरोंकी खंडित मूर्तियां मिली हैं। इसी लिये एवं इनमें अंकित शब्दोंके आधारसे विद्वानोंने इन्हें जैनोंका प्रगट किया है।[४] इसके माने यह होते हैं कि उस समयमें जैनधर्म वहांपर अच्छी तरह प्रचलित होगया था। अलगरमले (मदुरा) एक प्राचीन जैन

१–जुस्ट०, पृ० ३ व ६८१। २–साइंजै०, पृ० ९३–९४। ३–जभंरिइं०, भा० १६ प्र० सं० १–२ और करकण्डु चरिउ (कारंजा) भूमिका। ४–साइंजै०, भा० १ पृ० ३३–३४।

स्थान था और वहांपर ई० पूर्व तीसरी शताब्दिके लेख पढ़े गये हैं।[1] इन उल्लेखोंसे भी दक्षिण भारतमें जैनधर्मकी प्राचीनताका समर्थन होता है। निस्संदेह यदि दक्षिण भारतमें जैन धर्मका अस्तित्व एक अति प्राचीनकालसे न होता तो मौर्यकालमें श्रुतकेवली भद्रबाहु जैन संघको लेकर वहां जानेकी हिम्मत न करते।

हालमें प्रो० प्राणनाथने काठियावाड़मे मिले हुये एक प्राचीन ताम्रपत्रको पढ़ा है। इसकी लिपि रोमन, सिंधु, सुमेर आदि लिपियोंका मिश्रण है। प्रो० सा० इसे बेबीलनके राजा नेबुचद्नेजर प्रथम (ई० पूर्व ११४०) अथवा द्वितीय (ई० पूर्व ६००)का बताते हैं।[2] उस ताम्रपत्रका अर्थ उन्होंने निम्नप्रकार प्रगट किया है:—

"रेवानगरके राज्यका स्वामी, सु.... जातिका देव, नेबुश

१–जमास० भा० २७ पृष्ठ १२३–१२४।

२–"Dr. Pran Nath, Professor at the Hindu University, Benares, has been able to decipher the copper plate grant of Emperor Nebuchadnezzar I (circa 1140 B. C.) or II (circa 600 B. C.) of Babylon, found recently in Kathiawar. The inscription is of great historical value, and it shows a peculiar mixture of the characters used by the Romans, The Sindha valley people and the Semites. It may go a long way in proving the antiquity of the Jain religion, since the name of Nemi appears in the inscription."

—**The Times of India, 19th March 1935, p. 9.**

दनेज़र आया है। वह यदुराज (कृष्ण) के स्थान (द्वारिका) आया है। उसने मंदिर बनवाया, सूर्य ......देव **नेमि** कि जो स्वर्ग समान रैवत पर्वतके देव हैं (उनको) हमेशा के लिये अर्पण किया।"

"जैन" भाग ३५ अंक १ पृष्ठ २।

इसमें गिरनार (रैवत) पर्वतके देवरूपमें 'नेमि' का उल्लेख हुआ है और यह प्रगट ही है कि जैन तीर्थंकर नेमिनाथ गिरनार (रैवत) पर्वतसे निर्वाण सिधारे थे। वह रैवत पर्वतके देव हैं। साथ ही अन्यत्र यह अनुमान किया गया है कि गुजरातके जैनी वणिक 'सुर' जातिके हैं। अतः इस ताम्रपत्रसे जैनधर्मकी प्राचीनता सिद्ध होती है। परन्तु इसमें खास बात हमारे विषयकी यह है कि नेबुशदनेज़र को रेवा नगरका स्वामी कहा है। इससे प्रतीत होता है कि उसका राज्य भारतमें भी था, क्योंकि रेवा नगर दक्षिण भारतमें अवस्थित होसकता है। प्राचीन प्राकृत 'निर्वाणकांड' में भारतकी दक्षिण दिशामें स्थित रेवा नदी सिद्धवरकूटका उल्लेख है। होसकता है कि उक्त रेवनगर वहीं रेवा नदीके निकट हो। इस दशामें यह ताम्रपत्र दक्षिण भारतमें जैनधर्मके अस्तित्वको भगवान पार्श्वनाथकालमें प्रगट करता है।

ऐतिहासिक काल।

उपर्युल्लिखित बातोंको ध्यानमें रखते हुये यह मानना अनुचित नहीं है कि दक्षिण भारतमें जैन-धर्मका इतिहास एक अत्यंत प्राचीन-कालसे प्रारम्भ होता है। उसके पौराणिककालका वर्णन पूर्व पृष्ठोंमें लिखा जाचुका है। अब ऐतिहासिक

४—विभा० भा० १८ अंक ५ पृष्ठ ६२१।

कालके वर्णनमें उसका प्राचीन इतिहास लिखना अभीष्ट है। इसे हम भगवान् अरिष्टनेमिके वर्णनसे प्रारम्भ करेंगे और भ० महावीरके उपरांत उसके दो भाग कर देंगे, क्योंकि सुदूर दक्षिण भारतकी ऐतिहासिक घटनायें विन्ध्याचलके दक्षिणस्थ निकटवर्ती भारतसे भिन्न रही हैं। पहले 'दक्षिणापथ' का ऐतिहासिक वर्णन निम्नलिखित छः कालोंमें विभक्त होता है—

(१) **आन्ध्रकाल**—ईस्वी पांचवीं शताब्दि तक।

(२) **प्रारम्भिक चालुक्य**—(ईस्वी ५वींसे ७वीं शताब्दि) एवं **राष्ट्रकूट काल** (७वींसे १३ वीं शताब्दि तक)

(३) **अन्तिम चालुक्य काल**—(१०वींसे १४वीं श०)

(४) **विजयनगर साम्राज्य काल।**

(५) **मुसलमान मराठा काल।**

(६) **और ब्रिटिश राज्य।**

इसीके अनुसार सुदूरवर्ती दक्षिण भारतके निम्नलिखित छै काल होते हैं:—

(१) **प्रारम्भिक काल**—ईस्वी पांचवीं शताब्दि तक।

(२) **पल्लव काल**—ईस्वी ५वींसे ९वीं शताब्दि तक।

(३) **चोल प्राधान्य काल**—ई० ९वींसे १४वीं श० तक।

(४) **विजयनगर साम्राज्य काल**—ई० १४वींसे १६ वीं शताब्दि तक।

(५) **मुसलमान-मराठा काल**—ई० १६वींसे १८वीं शताब्दि तक।

(६) ब्रिटिश राज्य-(उपरांत)

प्रस्तुत 'प्राचीन खण्ड' में हम दोनों भागोंके पहले कालों तकका इतिहास लिखनेका प्रयत्न निम्न पृष्ठोंमें करेंगे। अवशेष कालोंका वर्णन आगेके खण्डोंमें प्रस्तुत करनेका प्रयत्न किया जायगा। आशा है, जैन साहित्य संसारके लिये हमारा यह उद्योग उपयोगी सिद्ध होगा।

आरंभिक-इतिहास।

भगवान् अरिष्टनेमि, कृष्ण और पाण्डव।

यादव वंश।

उत्तर भारतके क्षत्रिय वंशोंमें हरिवंश मुख्य था। इस वंशके राजाओंका राज्य मथुरामें था, यद्यपि इनके आदि पुरुष मगधकी ओर राज्य करते थे। हरिक्षेत्रका आर्य नामक एक विद्याधर अपनी विद्याधरीके साथ आकाशमार्ग द्वारा चम्पानगरमें पहुंचा था। उस समय चम्पानगर अपने राजाको खोनेके कारण अनाथ हो रहा था। विद्याधर आर्य चम्पाका राजा बन बैठा। उसका पुत्र हरि हुआ, जो बड़ा पराक्रमी था। उसने अपने राज्यका खूब विस्तार किया। उसीके नामकी अपेक्षा उसका वंश 'हरि' नामसे प्रसिद्ध हुआ। यद्यपि यह राजलोग विदेशी विद्याधर थे; परन्तु फिर भी उनको शास्त्रकारोंने क्षत्रिय संभवतः इसलिये लिखा है कि विद्याधरोंके आदि राजा नमि-विनमि भारतसे गये हुवे क्षत्रिय पुत्र थे।

धीरे-धीरे इस वंशके राजाओंने अपना अधिकार मगध पर जमा लिया और वहाँ इस वंशमें राजा सुमित्रके सुपुत्र तीर्थङ्कर मुनिसुव्रतनाथ जन्मे थे। मुनिसुव्रतनाथ स्वपुत्र सुव्रतको राज्य देकर धर्मचक्रवर्ती हुये थे। सुव्रतके उपरांत इस वंशमें अनेक राजा हुये और वे नाना देशोंमें फैल गये। उनमें राजा वसुका पुत्र बृहद्ध्वज मथुरामें आकर राज्याधिकारी हुआ और उसकी सन्तान वहां सानंद राज्य करती रही। तीर्थङ्कर नमिके तीर्थमें मथुराके हरिवंशी राजाओंमें यदु नामका एक तेजस्वी राजा हुआ।

यह राजा इतना प्रभावशाली था कि आगे हरिवंश इसीके नामकी अपेक्षा 'यादव वंश' के नामसे प्रसिद्ध होगया। राजा यदुके दो पोते शूर और सुवीर उसीकी तरह पराक्रमी हुये। सुवीर मथुराका राजा हुआ और शूरने कुशद्यदेशमें शौर्यपुर बसाकर वहां अपना राज्य स्थापित किया। अंधकवृष्णि आदि इनके अनेक पुत्र थे। सुवीरके पुत्र भोजकवृष्ण आदि थे।

सुवीरने मथुराका राज्य उनको दिया और स्वयं सिंधुदेशमें सौवीरपुर बसाकर वहांका राजा हुआ। अंधकवृष्णिके दश पुत्र थे, अर्थात् समुद्रविजय, अक्षयोभय, स्तिमित, सागर, हिमवन, अचल, धरण, पूरण, अभिचन्द्र और वासुदेव। इनकी दो बहिनें कुन्ती और मद्री थीं, जो पाण्डु और दमघोषको व्याही गई थीं।

कृष्ण वासुदेव और देवकीके पुत्र थे और वही उस समय यादवोंमें प्रमुख राजा थे। पाण्डुराज हस्तिनापुरमें राज्य करते थे, और उनकी सन्तान पाण्डव नामसे प्रसिद्ध थी। कृष्णके भाई बलभद्र थे।

तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि।

शौर्यपुरमें राजा समुद्रविजय रहते थे। उनकी रानीका नाम शिवादेवी था। उन्होंने कार्तिक कृष्ण द्वादशीको अन्तिम रात्रिमें सुन्दर सोलह स्वप्न देखे; जिनके अर्थ सुननेसे उनको विदित हुआ कि उनके बावीसवें तीर्थङ्कर जन्म लेंगे। दम्पति यह जानकर अत्यन्त हर्षित हुये। आखिर श्रावण शुक्ला पंचमीको शुभ मुहूर्तमें सती शिवादेवीने एक सुंदर और प्रतापी पुत्र प्रसव किया।

देवों और मनुष्योंने उसके सन्मानमें आनन्दोत्सव मनाया। उनका नाम अरिष्टनेमि रक्खा गया। अरिष्टनेमि युवावस्थाको पहुंचते-पहुंचते एक अनुपम वीर प्रमाणित हुये। मगधके राजा जरासिंधुसे यादवोंकी हमेशा लड़ाई ठनी रहती थी। अरिष्टनेमिने अपने भुज विक्रमका परिचय इन संग्रामोंमें दिया था।

जरासिंधुके आये दिन होते हुये आक्रमणोंसे तंग आकर यादवोंने निश्चय किया कि वे अपने चचेरे भाई सुवीरकी नाईं सुराष्ट्रमें जा रमे। उन्होंने किया भी ऐसा ही। सब यादवगण सुराष्ट्रको चले गये गये और वहां समुद्रतटपर द्वारिका बसाकर राज्य करने लगे।

सु-राष्ट्रका परिचय।

इस प्रसंगमें सु-राष्ट्रके विषयमें किंचित् लिखना अनुपयुक्त नहीं है। मालूम ऐसा होता है कि यादवोंका सम्बन्ध सु-जातिके लोगोंसे था; जिन्हें सु-मेर कहा जाता है और जो मध्य ऐशियामें फैले हुये थे। किन्तु मूलमें वे भारतवर्षके ही

निवासी थे; यही कारण है कि उनके निवासकी मूल भूमि काठियावाड़ 'सु-वर्णा' अथवा 'सु-राष्ट्र' नामसे विख्यात थी। 'महाभारत' में 'सिन्धु-सुवर्ण-प्रदेश' और जातिका उल्लेख है।[1] 'सु-वर्णा' का अर्थ 'सु' जाति होता है।

जैन शास्त्रोंमें 'सिन्धु-सौवीर' देशका उल्लेख हुआ मिलता है।[2] सौवीर देश अपने प्रमुख नगर सौवीरपुरके कारण ही प्रख्यातिमें आया प्रतीत होता है जिसे यादववंशी सुवीरने स्थापित किया था।[3] सुवीरका अर्थ 'सु' जातिका वीर होता है। इनके पहले और उपरान्त काठियावाड़का उल्लेख 'सु-राष्ट्र' नामसे जैन शास्त्रोंमें भी हुआ है।[4] इन सु-वीर लोगोंकी सभ्यताका सादृश्य सिंधु उपत्यकाकी सभ्यतासे था।

भारतीय विद्वानोंका मत है कि सु-जातीय (Sumerian) सभ्यताका विकास सिंधु सभ्यतासे हुआ था। सु-जातिके लोग सुराष्ट्रसे ही जाकर मेसापोटेमियामें बसे थे।[5] जैन शास्त्रोंमें हमें एक प्रसंग मिलता है जिसमें कहा गया है कि कच्छ-महाकच्छके

१-"विशाल भारत" भा० १८ अंक ५ पृष्ठ ६२६में प्रकाशित "सुमेर-सभ्यताकी जन्मभूमि भारत" शीर्षक लेख देखना चाहिये।

२-भगवती सूत्र पृ० १८६३ (सिंधुसौवीरेसु जणवएसु) व हरि० ३-३-७; ११-६८ इत्यादि।

३-Lord Aristanemi, p. 37.

४-हरि० ११-६४-७६ व ४९-१४; आक० १-१००; नाच० १-१९-७; कच० ३-५-६।

५-"विशालभारत" भा० १८ अंक ५।

पुत्र नमि-विनमिको नागराज धरणेन्द्र अपने साथ लेगया था और उन्हें विद्याधरोंका राजा बनाया था। उन्हींकी सन्तान विद्याधर नामसे मध्य एशिया आदिमें फैल गये थे। यादवोंके पूर्व पुरुष भी विद्याधर थे।

उपर्युल्लिखित विद्याधरोंके पूर्वज नमि-विनमि कच्छ महाकच्छ अथवा सुकच्छके पुत्र थे, जिसका अर्थ यह होता है कि उनका आवास भी सुराष्ट्र (काठियावाड़) था। उनके पिता कच्छ महा-कच्छ देशके प्रमुख निवासी होनेके कारण ही उस नामसे प्रसिद्ध हुये प्रतीत होते हैं।[२] और कच्छ महाकच्छ अथवा सुकच्छ देश आजकलके कच्छ देशके पास अर्थात् सिंधु सुवर्ण आदि ही होना चाहिये। इससे भी यही ध्वनित होता है कि सुराष्ट्रसे ही सुजातिके लोग मध्य एशिया आदि देशोंमें जाते थे। सुमेर अथवा सुजातिके राजाओंके नाम भी प्रायः वे ही मिलते हैं जो कि भारतके सूर्य-वंशी राजाओंके हैं।

सुमेर राजाओंकी किशवंशावलीमें इक्ष्वाकु, विकुक्षि (जिनके भाई निमि थे), पुरंजय, अनेनु (नक्ष), सगर, रघु, दशरथ और रामचंद्रके नाम मिलते हैं।

१-आपु० सर्ग १८ श्लो० ९१-९२ व हरि० सर्ग ९ श्लो० १२७-१३०।

२-'सु-कच्छ' नाम क्या उन्हें 'सु' जातिसे सम्बन्धित नहीं प्रगट करता? 'उत्तरपुराण' (पर्व ६६ श्लोक ६७) में एक 'सुकच्छ' नामक देशका स्पष्ट उल्लेख है। इस देशके निवासी सु-जातीय होनेके कारण महाकच्छ सुकच्छ नामसे प्रसिद्ध हुए प्रतीत होते हैं।

यदि ऋषभदेवको इक्ष्वाकु माना जाय जिनसे नमि विनमिने राज्यकी याचना की थी, तो किस वंशके विकुक्षि और उनके भाई निमि जैन शास्त्रके नमि विनमि अथवा सुकच्छके पुत्र विकच्छ हो सकते हैं।

उधर बैबीलनके राजाने नुशदनेजर अपनेको 'सु'जातिका देव (=नरपति) और रेवा नगरके राज्यका स्वामी लिखता ही है, जिसे हम दक्षिण भारतमें अनुमान कर चुके हैं। यह राजा अपने दान-पत्रमें यदुराज (कृष्ण) की राजधानी द्वारिकामें आनेका विशेष उल्लेख करता है और रैवत पर्वतमे निर्वाण पाये हुए भ० नेमिके सम्मानमें एक मंदिर बनवाकर उन्हें अर्पण करनेमें गौरव अनुभव करता है।

इससे स्पष्ट है कि यदुराजके प्रति उसके हृदयमें सम्मान ही नहीं बल्कि प्रेम था। उसका कथन ऐसा ही भासता है जैसे कि कोई नया आदमी अपने पूर्वजोंकी जन्मभूमिपर पहुंचकर हर्षोद्गार प्रगट करता हो।

यादवोंका मथुरा छोड़कर सुराष्ट्रमें आना भी उनको सुजातिसे सम्बंधित प्रगट करता है। क्योंकि आपत्तिके समय अपने ही लोगोंकी मदद आती है। मथुरामें जरासिंधुसे दुःखी होकर यादव सुराष्ट्रमें आये, इसका अर्थ यही है कि उनको सुराष्ट्रवासियोंपर विश्वास था—वे उनके आशा भरोसा थे। उनके एक पूर्वज ही सुवीर नामसे प्रसिद्ध हुये ही थे और उधर सुजातिके नृप यदुराजके प्रति प्रेम और विनय प्रगट करते हैं।

इस सब वर्णनसे यह स्पष्ट है कि यादवोंका सुराष्ट्रवासियोंसे विशेष सम्बन्ध था और मध्य एशियाके सुमेर राजा भी उन्हींके सजातीय थे। जैन शास्त्रोंमें कहा गया है कि कृष्णका राज्य वैताढ्य पर्वतसे समुद्र पर्यन्त विस्तृत था। यह वैताढ्य पर्वत ही विद्याधरोंका आवास और नमिविनमिके राज्याधिकारमें था।[1]

इससे स्पष्ट है कि कृष्णके साम्राज्यमें मध्य-एशिया भी गर्भित था। प्राचीन भारतका आकार उतना संकुचित नहीं था, जैसा कि वह आज है। उसमें मध्य एशिया आदि देश सम्मिलित थे।[2] सिन्धु और सुमेर सभ्यताओंके वर्णनसे ऐसा ही प्रतीत होता है कि एक समय मध्यएशिया तक एक ही जातिके लोगोंका आवास प्रवास था।

पूर्वोल्लिखित दानपत्रमें सुमेरनृप नेबुशदनजर अपनेको रेवा-नगरका स्वामी लिखता है जो दक्षिण भारतमें रेवा (नर्मदा) तटपर होना चाहिये। इससे प्रगट है कि नर्मदासे लेकर मेसोपोटमिया तक उसका राज्य विस्तृत था। एक राज्य होनेके कारण वहांके लोगोंमें परस्पर व्यापारिक व्यवहार और आदान-प्रदान होता था। यही कारण है कि भारतीय सभ्यता जैसी ही सभ्यता और सिक्के एवं वैलीप मध्यएशियाके लोगोंमें भी तब प्रचलित थी।

एक विद्वानका कथन है कि इन सु-जातिके लोगोंके धर्मोंसे जैनधर्म उत्पन्न हुआ और गुजरात तथा सुराष्ट्रके जैन वणिक इन्हीं

१–ज्ञातृधर्मकथाङ्गसूत्र (हैदराबाद) पृ० २२९ व हरि० पृष्ठ ४८१–४८२। २–"सरस्वती" भाग ३८ अंक १ पृष्ठ २३–२४।

सु-वर्ण और जैनधर्म।

लोगोंके वंशज हैं।[1] निःसन्देह यह कथन सत्यांशको लिये हुये है; क्योंकि इसका अर्थ यही हो सकता है कि सु-राष्ट्रवासी नमि विनमिने भगवान ऋषभका धर्म-ग्रहण करके उसका प्रचार अपने विद्याधर जातिके लोगोंमें किया था, जो उपरान्त मध्य एशियामें बहुतायतसे मिलते थे। मध्य एशियाकी जातियोंमें जैनधर्मका सद्भाव था। यह हम अन्यत्र प्रगट कर चुके हैं।[2] उधर यह प्रगट है कि सुराष्ट्र जैनधर्मका केन्द्र रहा है।

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवके पुत्रोंके अधिकारमें सिन्धु सुवीर और सुराष्ट्र थे। अन्तमें वे मुनि होगये थे और उन्होंने जैनधर्मका प्रचार किया था। उनके पश्चात् भी सुराष्ट्रमें जैनधर्मके अस्तित्वका वर्णन शास्त्रोंमें मिलता है।[3] स्वयं एक तीर्थंकरने सुराष्ट्रमें तपस्या और धर्मप्रचार किया था। इससे सुराष्ट्र और इतर निवासियोंमें जैनधर्मकी मान्यता स्पष्ट है।

भ० अरिष्टनेमिका विवाह।

हाँ, तो हम सु-राष्ट्रमें आकर यादवगण बस गये। द्वारिका उनकी राजधानी हुई और कृष्ण उसके राजा। तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि कृष्णके चचेरे भाई थे। उन्होंने राजकुमारी राजुलके साथ अरिष्टनेमिका विवाह कर

१-"विशाल भारत" भा० १८ अंक ९ पृष्ठ ६३१। २-"भगवान पार्श्वनाथ" पृ० १४०-१७८। ३-हरि० सर्ग १३ श्लोक ६४-७६। ४-हरिवंशपुराण, उत्तरपुराण आदि ग्रंथ देखो।

देना निश्चित किया। अरिष्टनेमि दूल्हा बने–बरातके बाजा बजे और ध्वजा निशान उड़े। परन्तु अरिष्टनेमिका विवाह नहीं हुआ। उन्होंने किन्हीं पशुओंको भूखप्याससे छटपटाते हुये बाड़ेमें बन्द देखा। इस करुण दृश्यने उनके हृदयको गहरी चोट पहुँचाई। उनका कोमल हृदय इस अदयाको सहन न कर सका। पशुओंको उन्होंने बन्धन मुक्त किया; परन्तु इतनेसे ही उन्हें सन्तोष नहीं हुआ।

उन्होंने सोचा संसारके सब ही प्राणी पराधीन और यमदूतके चुंगलमें फंसे हुये शरीरबन्धनमें पड़े हुये हैं–वह स्वयं भी तो स्वाधीन नहीं है! क्यों न पूर्ण स्वाधीन बन जाय? यही सोच-समझकर अरिष्टनेमिने वस्त्राभूषणोंको उतार फेंका। पालकीसे उतर कर वह सीधे रैवतक (गिरनार) पर्वतकी ओर चल दिये। वहां उन्होंने श्रावण शुक्ला षष्ठीको दिगम्बर मुद्रा धारण करके तपस्या करना आरम्भकी। घोर तपश्चरणका सुफल केवलज्ञान उन्हें नसीब हुआ। गिरिनार पर्वतके पास सहस्राम्रवनमें ध्यान माड़कर उन्होंने घातिया कर्मोंका नाश अश्विन कृष्णा अमावस्याके शुभ दिन किया।

अब अरिष्टनेमि साक्षात् सर्वज्ञ तीर्थंकर होगये। देव और मनुष्योंने उन्हें मस्तक नमाया और उनका धर्मोपदेश चावसे सुना। राजा वरदत्त उनका प्रमुख शिष्य हुआ। कुमारी राजुल भी साध्वी होकर आर्यिकाओंमें अग्रणी हुई।

१–हरि०, पृष्ठ ४१२–५०९।

एक सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकरके रूपमें भगवान् अरिष्टनेमिने नानादेशोंमें विहार करके धर्म-प्रचार किया।

भगवानका विहार।

'हरिवंश पुराण' में लिखा है कि भगवान् अरिष्टनेमिने क्रमसे सोरठ (सुराष्ट्र), लाटदेश, शूरसेन, पटच्चर, कुरुजांगल, पांचाल, कुशाग्र, मगध अंजन, अंग, बंग कलिंग आदि देशोंमें विहार किया था।"[1]

इस विहारमें भगवानका शुभागमन मलयदेशके भद्रिलपुरमें भी हुआ। वहांके राजा पौंडूने भक्तिपूर्वक भगवानकी वन्दना की। वहीं सेठ सुदृष्टिके यहां कृष्णकी रानी देवकीके छै युगलिया पुत्र रहते थे। वे भी भगवानकी वन्दना करने आये और धर्मोपदेश सुनकर मुनि हो भगवानके साथ होलिये।[2] आगे भगवान्‌का विहार पल्लवदेशमें भी हुआ। उस समय दक्षिण मथुरामें पांचों पाण्डव रह रहे थे। उन्होंने जब यह सुना कि भगवान अरिष्टनेमि वहां आये हैं तो उन्होंने जाकर भगवानकी वन्दना की।[3] इसप्रकार भगवानने दक्षिणके देशोंमें विहार किया। पल्लवदेशमें वे कईबार पहुंचे थे। उनके इसप्रकार धर्मप्रचार करनेसे दक्षिण भारतमें जैनधर्मकी प्रगति खूब हुई थी।

इधर अपने चचेरे भाई अरिष्टनेमिके मुनि हो जानेके पश्चात् कृष्ण लौटकर द्वारिका गये और वहां सानन्द राज्य करने लगे।

१-पृष्ठ ९९४। २-हरि० पृ० ९९४। ३-हरि० सर्ग ६३ श्लोक ७६-७७।

जब भगवान अरिष्टनेमि केवलज्ञानी हुये, तब वह उनकी वन्दना करने आये। उनके साथ अनेक यादवगणने तीर्थंकर अरिष्टनेमिका शिष्यत्व ग्रहण किया था। उपरान्त श्री कृष्णने दिग्विजयके लिये प्रस्थान किया। और अपने अतुल पौरुषसे सारे दक्षिणभारत क्षेत्रको विजय किया। इसके पश्चात कृष्णने आठ वर्षतक खूब भोग भोगे और अन्य राजाओंको वश किया। उपरान्त उन्होंने 'कोटिशिला' उठानेके लिये गमन किया। और उसे उठाकर अपने शारीरिक बलका परिचय जगतको करा दिया। वहांसे वह द्वारिका आये और वहां उनका राज्याभिषेक हुआ। अब कृष्ण राजराजेश्वर बनकर नीतिपूर्वक राज्य करते रहे।[1]

पञ्च पाण्डव।

उधर हस्तिनापुरमें पांडव सानंद रह रहे थे कि उनका विरोध कौरवोंसे हुआ। युधिष्ठिर शांतिप्रिय थे। उन्होंने इस विरोधको मेटनेका उद्योग किया। परन्तु यह गृहाग्नि शांत न हुई। कौरवोंने दुष्टताको ग्रहण किया। उन्होंने पांडवोंको लाखागारमें जला डालनेका उद्योग किया, परन्तु वे सुरंगके रास्तेसे भाग निकले। हस्तिनापुरसे चलकर पांचों पांडव और कुन्ती दक्षिण भारतमें पहुंचे। वहां उधर ही विचरते रहे और उस ओरके राजाओंसे उन्होंने विवाह सम्बन्ध किये।

१-हरि० सर्ग ५३, कोटिशिला दक्षिण भारतमें ही कहीं अवस्थित थी। श्रीमान् ब्र० सीतलप्रसादजीने इसे कलिंगदेशमें कहीं चीन्हा है।

अर्जुनका ब्याह काम्पिल्य नगरके राजा द्रुपदकी राजकुमारी द्रौपदीसे पहले ही होचुका था। आखिर पांडव दक्षिण मथुरा बसा कर वहीं राज्य करने लगे थे।[1] आज भी पांडवोंके स्मारकरूपमें दक्षिण भारतमें 'पांडव मलय' आदि स्थान मिलते हैं।[2]

द्वारिकाका नाश।

एक दफा जब भगवान अरिष्टनेमि गिरनार पर्वतपर विराजमान थे, श्रीकृष्ण सपरिवार उनकी वन्दना करने गये। वन्दना करके उन्होंने तीर्थंकर भगवानसे पूछा कि द्वारिकाका भविष्य क्या है? भगवानने उत्तरमें बताया कि द्वारिकाका नाश द्वीपायन मुनिके निमित्तसे होगा। उद्धत यादव युवक मदमत्त हो द्वीपायन मुनिको छेड़ेंगे और उनकी क्रोधाग्निमें मारे यादवों सहित द्वारिका भस्म होजायगी—केवल कृष्ण और बलराम शेष रहेंगे। वे दोनों निराश होकर दक्षिण मथुराकी ओर पांडवोंके पास जायगे कि रास्तेमें कोशांबवनके मध्य जरत्कुमारके बाणसे कृष्णका स्वर्गवास होगा।[3]

तीर्थंकरके मुखसे यह भविष्यवाणी सुनकर यादवगण भयभीत होगये और उन्होंने द्वारिकाकी रक्षाके लिये सतत उपाय किये। परन्तु भावी अमिट थी। द्वारिकाका नाश द्वीपायनकी क्रोधाग्निसे

१–हरि० सर्ग ४२ व ५४। २–स्मैं०स्मा०, पृ० ६२....।

३–"तेणं अरहा अरिट्ठनेमी कण्हं वासुदेवं एवं वयासी-एवं खलु कण्हा! तुमं बारवईए णयरीए सुरग्गि दीवायणं कोव निद्दड्ढ ए अम्मापियरं णियगविप्पहूणे रामेण बलदेवेण सद्धिं दाहिणं वेयालि-अभिमुहे जुहिट्ठिल पामोक्खाणं पंचण्हं पंडवाणं पंडुराय पुत्ताणं पासं पंडुमहुरं संपत्थिए कोसंब काणणंमि णग्गोहवरपायवस्स अहे पुढविसिलापट्टए विदण्ह जाइय सरीर....इत्यादि।

हुआ। कृष्ण और बलराम ही उस प्रलयंकरी अग्निसे बच पाये। वे दक्षिण मथुराको चले कि धोखेसे जरत्कुमारके बाणने कृष्णकी जीवनलीला समाप्त करदी! बलराम भ्रातृमोहमें पागल होगये।

पांडवोंने जब सुना तो वे बलरामके पास आये और उनको सम्बोधा। तब बलरामने शृङ्गी पर्वतपर कृष्णके शवका अग्निसंस्कार किया और वहीं मुनि हो वह तप तपने लगे। उस समय भगवान नेमिनाथ पल्लव देशमें विहार कर रहे थे। पांडव सपरिवार वहींको प्रस्थान कर गये।[1]

निर्वाण।

पल्लवदेशमें विहरते भगवान अरिष्टनेमिके समवशरणमें पहुंचकर पाण्डवों और उनकी रानियोंने भगवानकी वन्दना की और उनसे धर्मोपदेश सुना। सबने अपने पूर्वभव उनसे पूछे; जिनको सुनकर वे सब संसारसे भयभीत होगये। युधिष्ठिर आदि पांचों पांडवोंने तत्क्षण भगवानके चरणकमलोंमें मुनिव्रत धारण किये। कुंती, द्रौपदी आदि रानियां भी राजमती आर्यिकाके निकट साध्वी होगईं। इसप्रकार सब ही सन्यस्त होकर तप तपनेमें लीन होगए!

अब भगवान अरिष्टनेमिका निर्वाणकाल समीप आ रहा था। इसलिये वे पल्लवदेशसे चलकर उत्तरदिशामें विहार करते हुए गिरिनार पर्वतपर आ विराजे। उनके साथ संघमें पाण्डवादि भी आये। गिरनार पर्वतपर आकर भगवान् अरिष्टनेमिने निर्वाणकालसे एक मास पूर्वतक धर्मोपदेश दिया। यह उनका अंतिम प्रवचन था।

१-हरि० सर्ग ६२।

उपरान्त एक मास पहलेसे उन्होंने योगोंका निरोध किया। और अघातिया कर्मोंका नाश कर वे मुक्त होगये। उस समय समुद्रविजय, शंबू, प्रद्युम्न आदि भी गिरनारसे मोक्ष गये थे। इस पुनीत घटनाके हर्षमें देवोंने आनन्दोत्सव मनाया था। इन्द्रने गिरिनार पर एक सिद्धशिला निर्मापी, जिसपर भगवान् नेमिनाथके समस्त लक्षण अंकित कर दिये।

इस प्रकार भगवानको मुक्त हुआ जानकर पांचों पाण्डव शत्रुंजय पर्वतपर जा विराजे। वहा उन्होंने गहन ध्यान माड़ा। उस ध्यान अवस्थामें उनपर कौरव वंशके युधरोधन नामक दुष्टने घोर उपसर्ग किया। उसने लोहेके कड़े, मुकुट आदि बनाये और उन्हें अग्निमें तपाकर पाण्डवोंको पहिना दिये, जिससे उनके शरीर अवयव बुरी तरह जल गये। परन्तु साधु पाण्डवोंने इस उपसर्गको सम भावोंसे सहन किया। युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन उसी समय मुक्त हो सिद्ध परमात्मा हुये। मुनिराज नकुल और सहदेव भाइयोंके मोहमें किंचित फंस गये। इसलिए वे मरकर सर्वार्थसिद्धि विमानमें अहमिन्द्र हुये। बलभद्र भी स्वर्गमें देव हुये।[१]

उपरान्त यादवोंमें केवल जरत्कुमार शेष रहे थे और उन्हींसे यादवोंकी वंशपरम्परा जीवित रही। जरत्कुमार कलिङ्गदेशमें जाकर राज्य करने लगे और वहीं उनकी सन्तान राज्याधिकारी हुई थी।

१-हरि० सर्ग ६५।

भ० अरिष्टनेमि ऐतिहासिक पुरुष थे।

यहां यह प्रश्न निरर्थक है कि क्या भगवान अरिष्टनेमि एक ऐतिहासिक महापुरुष थे? पूर्वोल्लिखित सम्राट् नेबुशदनेजरके दानपत्रमें उनका स्पष्ट उल्लेख हुआ है और उससे उनका अस्तित्व एक अति प्राचीनकालसे सिद्ध है। उस दानपत्रके अतिरिक्त गिरिनार पर्वतपर अनेक प्राचीन स्थान और लेख हैं, जो भ० अरिष्टनेमिकी ऐतिहासिकताको प्रमाणित करते हैं।

गिरिनारके बाबा प्यारेके मठवाले शिलालेखमें "केवलज्ञान सम्प्राप्तानाम्" वाक्य पढ़ा गया है; जिससे स्पष्ट है कि यह स्थान किसी केवलज्ञानीके प्रति उत्सर्ग किया गया था और यह विदित ही है कि श्री अरिष्टनेमिने गिरिनार पर्वतपर केवलज्ञान प्राप्त किया था।[1] मथुराका प्राचीन पुरातत्व भी भ० नेमिके अस्तित्वको सिद्ध करता है।[2] इसके अतिरिक्त 'जैनेतर साहित्यकी साक्षी भी इस विषयके समर्थनमें उपलब्ध है।

जैनोंके प्राचीन साहित्यमें तो भगवान अरिष्टनेमिका वर्णन है ही; परन्तु महत्वकी बात यह है कि हमें वैदिक साहित्यमें भी भगवान अरिष्टनेमिका उल्लेख हुआ मिलता है। यजुर्वेद अ० ९ मंत्र

१-इंऐ०, भा० २० पृ० ३६१.... २-सामन० पृष्ठ ८६-८८ व कैस्तूप० १३....।

२५में एक अरिष्टनेमिका स्पष्ट उल्लेख है।[1] और जैन[2] एवं अजैन विद्वान् उन्हें जैन तीर्थङ्कर ही प्रकट करते आए हैं।

इसके अतिरिक्त 'प्रभास पुराण' में स्पष्ट लिखा हुआ है कि नेमि जिनने रैवत पर्वतसे मोक्ष लाभ लिया था।[4] इस साक्षीके समक्ष भ० अरिष्टनेमिके अस्तित्वमें शङ्का करना व्यर्थ है। विद्वानोंका मत है कि जब नेमिप्रभुके चचेरे भाई श्री कृष्णको ऐतिहासिक पुरुष माना जाता है तो कोई वजह नहीं कि तीर्थङ्कर नेमि वास्तविक पुरुष न माने जांय। डॉ० फुहरर और प्रो० बारनेट सा०ने स्पष्टतया भगवान अरिष्टनेमिकी ऐतिहासिकता स्वीकार की है।[5]

इस प्रकार भगवान अरिष्टनेमिके चरित्रसे यह प्रगट है कि उनके द्वारा दक्षिण भारतके पल्लव, मलय आदि देशोंमें जैन धर्मका प्रचार हुआ था और इस साक्षीसे दक्षिण भारतमें जैन धर्मकी प्राचीनता भी स्पष्ट होती है

१—वाजस्यनु प्रसव आबभूवेमा च विश्वभुवनानि सर्वतः।
स नेमिराजा परियाति विद्वान् प्रजा पुष्टि वर्धयमानो ॥९॥२५॥

२—श्री टोडरमल कृत 'मोक्षमार्ग-प्रकाश' देखो।

३—प्रो० स्वामी विरूपाक्ष वडियरने यही अर्थ किया था—देखो जैन पथ प्रदर्शकका विशेषांक [वर्ष ३ अंक ३] ऋग्वेद (१.६ व १६) के इस मंत्रका 'स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः' का अर्थ 'अरिष्टनेमि (संसार सागरको पार कर जानेमें समर्थ) ऐसा जो अरिष्टनेमि तीर्थङ्कर है वह हमारा कल्याण करे' किया था।

४—'रैवताद्रौ जिनो नेमिर्युगादिर्विमलाचले।
ऋषीणां या श्रमादेव मुक्तिमार्गस्य कारणम् ॥'

५—लांजैमे० पृ० ८८-८९

भगवान् पार्श्वनाथ।

काशी देशमें इक्ष्वाकुवंश–उग्रकुलके राजा विश्वसेन राज्य करते थे। बनारस उनकी राजधानी थी और वहीं उनका निवास-स्थान था। रानी ब्रह्मदत्ता उनकी पटरानी थी। पौषकृष्ण एकादशीको उन रानीने एक प्रतापी पुत्र प्रसव किया; जिसके जन्मने ही लोकमें आनंद और हर्षकी एक धारा बह गई। देवों और मनुष्योंने मिलकर खूब उत्सव मनाया। उस पुत्रका नाम 'पार्श्व' रक्खा गया और वही जैन धर्मके २३ वें तीर्थङ्कर हुये।

युवावस्थाको प्राप्त करके राजकुमार पार्श्व राज–काजमें व्यस्त होगये। वह अपने पिताके साथ प्रजाका हित साधनेमें ऐसे निरत हुये कि उनका नाम और काम चहुं ओर फैल गया। लोग उन्हें "सर्वजन प्रिय" (People's Favourite) कहकर पुकारते थे।

एकदफा कुमार पार्श्वनाथ मित्रों सहित वनविहारके लिये निकले। बागमें उन्होंने देखा कि उनका नाना महीपालपुरका राजा तापसके भेषमें पंचाग्नि तप रहा है। वह उल्टा मुख किये पेड़में लटका हुआ था। कञ्चन–कामिनीका मोह उसने त्याग दिया था; परन्तु फिर भी उसके त्यागमें कमी थी। उसे घमंड था कि मैं साधु हूं। मुझसा संसारमें और कोई नहीं। इस घमंडके दर्पमें वह अपने 'आप' को भूल गया। उसकी आत्मोन्नतिका मार्ग अब कुण्ठित होगया। लेकिन वह तप तपता और कायक्लेश सहता था। पार्श्वकुमार और उनके मित्रोंको उसने देखा। वह्को, उन्हें चीरनेमें

देर न लगी । पर वह साधु था । उनका अभिवादन पाये बिना वह क्यों बोले ! साल-सहमकी रीति उसे पसन्द न थी । पार्श्व-कुमारने उसकी मूढ़ता देखी । वह उसे भला अभिवादन क्या करते ! हां, वह उसका सच्चा हित साधनेके लिये तुल पड़े ।

उन्होंने कहा कि यह साधुमार्ग नहीं है । अग्नि सुलगाकर व्यर्थ जीवोंकी हिंसा करते हो ! राजकुमारके इन शब्दोंने उस साधुको आग-बबूला बना दिया । उसने कुल्हाड़ी उठाई और अधसिलगे लकड़ीके बोंटको वह फाड़ने लगा । उसके आश्चर्यका ठिकाना न रहा, जब उसने उस लकड़ीकी खुखालमें एक मरणासन्न सर्पयुगल देखा ! उसका मन तो मान गया, परन्तु घमंडका भूत सिरसे न उतरा ! यही कारण था कि वह अहिंसा धर्मके महत्वको न समझ सका । सर्पयुगलको भ० पार्श्वने सम्बोधा ! वे समभावोंसे मरे और धरणेन्द्र-पद्मावती हुये ।

इस रीतिसे भ० पार्श्वनाथ कौमारकालसे ही जनतामें धार्मिक सुधार कर रहे थे । उनके समयमें धर्मके नामपर तरह तरहके अनर्थ प्रचलित होगये थे । पार्श्व प्रभूने उनको मेटना आवश्यक समझा । उन्होंने देखा कि समाजमें गृहत्यागियोंकी मान्यता है और बिना गृह त्याग किये सत्यके दर्शन पा लेना दुर्लभ है । इसलिये उन्हें घरमें रहना दूभर होगया ।

आखिर उन्हें एक निमित्त मिल गया-अब वे दिगम्बर मुनि होगये । मुनि अवस्थामें उन्होंने घोर तप तपा । ज्ञान-ध्यानमें वे लीन रहे । संयमी जीवनकी पराकाष्ठापर वे पहुंच गये । एक अच्छेसे

दिन 'ज्ञान' मूर्तिमान् हो उनके अभ्यन्तरमें नाचने लगा । पार्श्वनाथ साक्षात भगवान् होगये—वे अब सर्वज्ञ तीर्थंकर थे । ज्ञान-प्रकाशका धवल आलोक उनके चहुंओर छिटक रहा था । ज्ञानी जीव उनकी शरणमें पहुंचे । भगवानने उन्हें सच्चा धर्म बताया, जिसे पाकर सब ही जीव सुखी हुये—सबने समानताका अनुभव किया और आत्मस्वातंत्र्यके वे अधिकारी हुये ।

अपने इस विश्वसन्देशको लेकर भगवान पार्श्वनाथने सारे आर्यदेशमें विहार किया । जहां-जहां उनका शुभागमन हुआ वहां-वहांके लोग प्रतिबुद्ध हो सन्मार्ग पर आरूढ़ हुये । भगवान पार्श्वनाथके धर्मप्रचारका वर्णन सकलकीर्ति कृत 'पार्श्वनाथचरित' में निम्नप्रकार लिखा हुआ है:—

"तत्त्वभेदप्रदानेन श्रीमत्पार्श्वप्रभुर्महान् ।
जनान् कौशलदेशीयान् कुशलान् संव्यधाद्भृशं ॥ ७६ ॥
भिंदन् मिथ्यातमोगाढं दिव्यध्वनिप्रदीपकैः ।
काशीदेशीयलोकान् स चक्रे सत्यमतत्परान् ॥ ७७ ॥
श्रीमन्मालवदेशीयभव्यलोकसुचातकान् ।
देशनामृतधाराभिः प्रीणयामास तीर्थराट् ॥ ७८ ॥
अवंतीयान् जनान् सर्वान् मिथ्यात्वानलतापितान् ।
ग्याभिर्वापयामास...पार्श्वचन्द्रामृतैः ॥ ७९ ॥
गोर्ज्जराणां जनानां हि पार्श्वसम्राट् जितेंद्रियः ।
[illegible] जातनेः ॥ ८० ॥
[illegible] ।
[illegible] पार्श्व[illegible] ॥ ८१ ॥

पार्श्वभट्टारकः श्रीमान् पादन्यासैर्विहारिणः ।
सर्वान् सौराष्ट्रलोकांश्च पवित्रान् विदधे भृशं ॥ ८२ ॥
अंगे वंगे कलिंगेऽथ कर्णाटे कोंकणे तथा ।
मेदपाटे तथा लाटे त्रिलिंगे द्राविडे तथा ॥ ८३ ॥
काश्मीरे मगधे कच्छे विदर्भे च दशार्णके ।
शकाके पल्लवे वत्से पामीरे च मनोहरे ॥ ८४ ॥
इत्यार्यखण्डदेशेषु सङ्कीर्णेषु महात्मनां ।
दर्शनज्ञानचारित्राण्यतनोद्बोधकः स्वयं ॥ ८५ ॥ १२ ॥

भावार्थ—भव्यजीवोंको प्रबोध करनेके लिये महान् प्रभु श्री पार्श्व भगवानने कौशल देशके कुशल पुरुषोंमें विहार किया और अपनी दिव्यध्वनिरूप प्रदीपसे गाढ मिथ्यातमको भंजित कर दी। फिर संयममें तत्पर काशी देशके मनुष्योंमें सम्यक्त्वका प्रभाव फैलाया। श्री मालवदेशके निवासी भव्यजीवरूप चातकोंने भी तीर्थराट्के धर्मामृतका पान किया था। अवंती देश जो मिथ्यानलसे तप्त था, सो पार्श्वरूपी चन्द्रके अमृतको पाकर शांत होगया था। गौर्जर देशमें भी जितेन्द्रिय पार्श्व प्रभुके मृदुवचनोंके प्रभावसे मिथ्यात्व बिल्कुल जर्जरित होगया था। महाराष्ट्र देशवासियोंमें अनेकोंने पार्श्व भगवानसे दीक्षा ग्रहण की थी। एवं सौराष्ट्र देशमें भी पार्श्व भट्टारकका विहार हुआ था जिससे वहांके लोग पवित्र होगए थे। अंग, वंग, कलिंग, कर्नाटक, कोंकण, मेदपाद, लाट, द्राविड़, काश्मीर, मगध, कच्छ, विदर्भ, शाक, पंचाल, पल्लव, वत्स इत्यादि आर्यखंडके देशोंमें भी भगवानके उपदेशसे सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रत्नोंकी अभिवृद्धि हुई थी।

भगवान पार्श्वनाथके इस विहार-विवरणसे स्पष्ट है कि उनका शुभागमन दक्षिण भारतके देशोंमें भी हुआ था। महाराष्ट्र, कोंकण, कर्नाटक, द्राविड़, पल्लव आदि दक्षिणावर्ती देशोंमें विचर करके तीर्थङ्कर पार्श्वनाथने एक बार पुनः जैन धर्मका उद्योत किया था। दक्षिण भारतमें भगवान् पार्श्वनाथके शुभागमनको चिरस्मरणीय बनानेवाले वहां कई तीर्थ आज भी उपलब्ध हैं। अन्तरीक्ष पार्श्वनाथ, कलिकुंड पार्श्वनाथ आदि तीर्थ विशेष उल्लेखनीय हैं। दक्षिण भारतके जैनी भगवान् पार्श्वनाथका विशेषरूपमें उत्सव भी मनाते हैं।

महाराजा करकंडु।

भगवान पार्श्वनाथके शासनकालमें सुप्रसिद्ध महाराजा करकंडु हुये थे। इन्हें शास्त्रोंमें 'प्रत्येक बुद्ध' कहा गया है और उनकी मान्यता जैनेतर लोगोंमें भी है।

उत्तर भारतके चम्पापुरमें धाड़ीवाहन नामका राजा राज्य करता था। उसकी रानी पद्मावती गर्भवती थी। एक दिन हाथीपर सवार होकर राजा और रानी वनविहारको गये। हाथी बिचर गया और उन्हें जंगलमें लेभागा। राजा तो पेड़की डाली पकड़कर बच गया। परन्तु रानीको हाथी लिये ही चला गया। वह दन्तिपुरके पास एक जलाशयमें जा घुसा। रानीने कूद कर अपने प्राण बचाये और एक मालिनके घर जाकर वह रहने लगी। किंतु मालिनके क्रूर स्वभावसे वह तंग आगई और एक स्मशान भूमिमें वह जा बैठी।

कर्मोंके वैचित्र्यको दिखलाती हुई पद्मावती रानी वहां बैठी थी कि वहीं उन्होंने एक पुत्र प्रसव किया। एक मातंग वेषधारी विद्याधरने उस समय पद्मावती रानीकी सहायता की-नवजात शिशुकी रक्षाका भार उसने अपने ऊपर लिया। उस विद्याधरने उस बालकको खूब पढ़ाया-लिखाया और शस्त्रास्त्र चलानेमें निष्णात बनाया। बालकके हाथमें सूखी खुजली थी। इस कारण उसे 'करकंडु' नामसे पुकारने लगे।

बालक करकंडु भाग्यशाली था। जब वह युवा हुआ तो दन्तिपुरके राजाका परलोकवास होगया। उसके कोई पुत्र न था। राजमंत्रियोंने दिव्य निमित्तसे करकंडुको राजत्वके योग्य पाकर उन्हें दन्तिपुरका राजा बनाया। राजा होनेके कुछ समय पश्चात करकंडुका विवाह गिरिनगरकी राजकुमारी मदनावलीसे होगया।

चम्पाके राजाने करकंडुको अपना आधिपत्य स्वीकारनेके लिये बाध्य किया; जिसे करकंडुने अस्वीकार किया। आखिर दोनों नरेशोंमें युद्धकी नौबत आई; परन्तु पद्मावतीने बीचमें पड़कर पिता-पुत्रकी सन्धि करादी। धाड़ीवाहन पुत्रको पाकर बहुत हर्षित हुए। उन्होंने चम्पाका राजपाट करकण्डुको सौंपा और आप मुनि होगये। करकण्डु सानन्द राज्य करने लगे।

एकबार करकंडुको यह कामना हुई कि उनकी आज्ञा सारे भारतमें निर्बाध रीतिसे मान्य हो; किन्तु मंत्रियोंसे उन्हें मालूम हुआ कि द्राविड़ देशके चोल, चेर और पाण्ड्यनरेश उनकी आज्ञाको नहीं मानते हैं।

राजाने उनके पास दूत भेजा, परन्तु उन्होंने करकंडुका आधिपत्य स्वीकार नहीं किया। इस उत्तरको सुनकर करकंडु चिढ़ गया। और उसने उनपर तुरन्त चढ़ाई कर दी। मार्गमें वह तेरापुर नगर पहुंचे। और वहांके राजा शिवने उनका सम्मान किया। वहीं निकटमें एक पहाड़ी और गुफायें थीं। करकंडु शिवराजाके साथ उन्हें देखने गया। गुफामें उन्होंने भगवान पार्श्वनाथका दर्शन किया। वहीं एक वामीको उन्होंने खुदवाया और उसमेंसे जो भगवान पार्श्वनाथकी एक मूर्ति निकली, उसको उन्होंने उस गुफामें विराजमान किया। मूर्ति जिस सिंहासन पर विराजमान थी उसके बीचमें एक भद्दी गाँठ दिखती थी। करकंडुने उसे तुड़वा दिया, किन्तु उसके तुड़वाते ही वहाँ भयंकर जलप्रवाह निकल पड़ा। करकंडु यह देखकर पछताने लगे। उस समय एक विद्याधरने आकर उनकी सहायता की और उसने उस गुफाके बननेका इतिहास भी उनको बताया।

विद्याधरके कथनसे करकंडुको मालूम हुआ कि दक्षिण विजयार्द्धके रथनूपुर नगरसे राजच्युत होकर नील-महानील नामके दो भाई तेरपुरमें आरहे थे। यह दोनों विद्याधर वंशके राजा थे। धीरे धीरे उन्होंने वहाँ राज्य स्थापित कर लिया। एक मुनिके उपदेशसे उन्होंने जैन धर्म ग्रहण कर लिया और वह गुफा मंदिर बनवाया। उस गुफा मंदिरमें एक मूर्ति ठेठ दक्षिणभारतसे लाई हुई उस विद्याधरने बताई।

रावणके वंशजोंने मलयदेशके पूदी पर्वतपर एक जिनमंदिर

बनवा कर वह सुंदर जिनमूर्ति स्थापित कराई थी। कोई विद्याधर उस मूर्तिको वहाँसे उठा लाये और तेरापुरमें उसको उतारा। फिर वह उस मूर्तिको वहाँसे नहीं ले जा सके। करकंडु यह सब कुछ सुनकर बहुत प्रसन्न हुये। करकंडुने वहाँ दो गुफायें और बनवाईं।

तेरापुरसे करकंडु सिंहलद्वीप पहुंचे और वहाँकी राजपुत्री रतिवेगाका पाणिग्रहण किया। उपरान्त एक विद्याधर पुत्रीको व्याह कर उन्होंने चोल, चेर और पाण्ड्य नरेशोंकी सम्मिलित सेनाका मुकाबला किया और हराकर अपना प्रण पूरा किया। किन्तु जब करकंडुने उन्हें जैनधर्मानुयायी जाना उनके मुकटोंमें जिनप्रतिमायें देखीं तो उन्हें बहुत पश्चाताप हुआ और उन्होंने उन्हें पुनः राज्य देना चाहा; पर वे स्वाभिमानी द्राविड़ाधिपति यह कहकर तपस्याको चले गये कि अब हमारे पुत्र पौत्रादि ही आपकी सेवा करेंगे। वहाँसे लौटकर तेरापुर होते हुये करकंडु चम्पा आगये और राज्यसुख भोगने लगे।

एक दिन चम्पामें शीलगुप्त नामक मुनिराजका शुभागमन हुआ। करकंडु सपरिवार उनकी वन्दनाको गया। मुनिराजसे उन्होंने धर्मोपदेश और अपने पूर्वभव सुने, जिनके सुननेसे उन्हें वैराग्य होगया और वे अपने पुत्र वसुपालको राज्य देकर मुनि हो गये। मुनि अवस्थामें उन्होंने घोर तप तपा और मोक्ष प्राप्त किया। उनकी रानियाँ भी साध्वी होगई थीं।

महाराजा करकंडुकी बनवाई हुई गुफायें आज भी निजाम राज्यके उस्मानाबाद जिलेमें तेर नामक स्थानपर मिलती हैं। उनकी

रचना और क्रम ठीक वैसा ही है जैसा कि करकंडुकी बनवाई हुई गुफाओंका था। और वहांपर जीमूतवाहन विद्याधरके वंशजोंका एक समय राज्य भी था। वे 'तगरपुरके अधीश्वर' कहलाते थे। उपरान्त वे ही लोग इतिहासमें शिलाहारवंशके नामसे परिचित हुये थे। करकण्डु महाराजकी सहायता करनेवाला भी एक विद्याधर था और उसने यह कहा था कि-नील-महानील विद्याधरोंके वंशज तेरापुर (तगरपुर) में राज्य करते थे। इससे स्पष्ट है कि शिलाहारवंशके राजा उन विद्याधरोंके ही अधिकारी थे, जिनमें जैनधर्मकी मान्यता थी। शिलाहार राजाओंमें भी अधिकांश जैनी थे। इससे भी दक्षिण भारतमें जैनधर्मका प्राचीन अस्तित्व सिद्ध है। ×

भगवान् महावीर-वर्द्धमान् ।

भगवान महावीर जैन धर्ममें माने हुये चौबीस तीर्थङ्करोंमें अन्तिम थे। वे ज्ञातृवंशी क्षत्रिय नृप सिद्धार्थके पुत्र रत्न थे। उनका जन्म वैशालीके निकट अवस्थित कुण्ड ग्राममें हुआ था और उनके जीवनका अधिकांश समय उत्तर भारतमें ही व्यतीत हुआ था; परन्तु यह बात नहीं है कि दक्षिण भारतके लोग उनके धर्मोपदेशसे अछूते रहे थे। यह अवश्य है कि उनका विहार ठेठ दक्षिणमें शायद नहीं हुआ हो। वहां उनके पूर्वगामी तीर्थङ्कर श्री अरिष्टनेमी आदि

× विशेषके लिये 'करकण्डुचरिउ' (कारंजा जैन ग्रन्थमाला) की भूमिका देखना चाहिये, जिसके आधारसे यह परिचय सधन्यवाद लिखा गया है।

और उनके शिष्योंका ही विहार हुआ;[1] परन्तु विंध्याचलके निकट-वर्ती प्रदेश अर्थात् दक्षिणा पथमें भगवान महावीरका शांति-सुख-विस्तारक समोशरण निस्सन्देह अवतरित हुआ था।

जब लगभग तीस वर्षकी अवस्थामें उन्होंने गृह-त्याग करके दिगम्बर मुनिका वेष धारण किया तब वे उत्तर और पूर्वीय भारतमें ही विचरते रहे। उधर पूर्व-दक्षिणमें लाढ़ वज्रभूमि आदि देशोंमें भगवानने विहार किया था और इधर पश्चिम दक्षिणमें वे उज्जैन तक पहुँचे थे। उज्जैनके महाकाल स्मशान भूमिमें जब भगवान् विराजे रहे थे, तब उनके अलौकिक ध्यान ज्ञान-अभ्यासको सहन न करके रुद्र नामक व्यक्तिने उन पर घोर उपसर्ग किया था। इस घटनाके बाद भगवान्का विहार उत्तर पूर्व दिशाको हुआ था।

अनन्तर जृम्भकग्रामके निकट ऋजुकूला नदीके तटपर उन्होंने घोर तपश्चरण किया था और वहीं उनको केवलज्ञानकी सिद्धि हुई थी। यह पवित्र स्थान आधुनिक झरियाके निकट अनुमान किया गया है।[2] केवली तीर्थंकर होकर भगवानने राजगृहकी ओर प्रस्थान किया था और वहांसे वे प्रायः सर्वत्र उत्तर भारतमें विचरते रहे थे। ठीकसे नहीं कहा जासकता कि वे कहां कैसे और कब पहुंचे थे, परन्तु इसमें संशय नहीं कि जब वे शूरसेन, दशार्ण आदि

१–शायद यही कारण है कि दक्षिण भारतके जैनोंने अपने संघको 'मूलसंघ' कहा है। अतः जैनधर्मके यथार्थ दर्शन दक्षिण भारतीय साहित्यमें ही होना संभव हैं।

२–'वीर' भा० ९ पृष्ठ ३३४–३३६।

देशोंमें होते हुये सिन्धु-सौवीर देशमें पहुँचे थे, तब विंध्याचलके समीप स्थित देश उनके सम्पर्कमें आनेसे नहीं बचे ।

हेमांगदेशकी राजधानी राजपुरमें भगवानका शुभागमन हुआ था । राजपुर दण्डकारण्यके निकट अवस्थित था ।[1] वहांके राजा जीवन्धर अत्यंत पराक्रमी थे । उन्होंने पल्लवदेशादि विजय किये थे । उनका विचरण दक्षिण भारतके देशोंमें भी हुआ था । दक्षिणस्थ क्षेमपुरीमें उन्होंने दिव्य जिनमंदिरके दर्शन किये थे । आखिर वे भ० महावीरके निकट मुनि होगये थे । पोदनपुरमें राजा प्रसन्नचंद्र भ० महावीरका भक्त था । पोलासपुरका राजा भी भगवान् महावीरका शिष्य था ।

भगवानका शुभागमन इन देशोंमें हुआ था । इससे आगे वे गये थे या नहीं, यह कुछ पता नहीं चलता । हां, 'हरिवंशपुराण' में अवश्य कहा गया है कि भ० महावीरने ऋषभदेवके समान ही सारे आर्य देशमें विहार और धर्मप्रचार किया था । इसका अर्थ यही है कि दक्षिण भारतमें भी वे पहुंचे थे ।

सम्राट् श्रेणिक, जम्बूकुमार और विद्युच्चर ।

भगवान् महावीर-वर्द्धमानके अनन्य भक्त सम्राट् श्रेणिक थे । तब मगधमें शिशु नागवंशके राजाओंका राज्य था । श्रेणिक उस ही वंशके रत्न और मगध साम्राज्यके संस्थापक थे ।

श्रेणिक बिम्बसार ।

मगध राज्यका उन्होंने खूब ही विस्तार किया था । कहते हैं कि

1—जैसिभा०, भा० २ पृष्ठ ९,–१०२ । २–हरि०, पृष्ठ १८ ।

भारतकी पश्चिमोत्तर सीमापर पैर जमाये हुये ईरानियोंको सम्राट् श्रेणिकने ही दूर भगा दिया था। श्रेणिकके पुत्र अभयराजकुमार थे। वह राजमंत्र और तंत्रमें अति प्रवीण थे। मालूम होता है कि ईरानके राजवंशसे उनका प्रेममय व्यवहार था।

श्रेणिकने ईरान और उसके निकटवर्ती देशोंमें जिनमूर्तियां स्थापित कराई थीं। अभयराजकुमारने अपने मित्र ईरानके शाहजादे आर्द्रकके लिये खास तौरपर एक जिनमूर्ति भेजी थी। आर्द्रक उस दिव्यमूर्तिके दर्शन करके ऐसा प्रतिबुद्ध हुआ कि सीधा भगवान महावीरके समोशरणमें आ मुनिदीक्षासे दीक्षित होगया।[2] निस्संदेह सम्राट् श्रेणिक और उनके सुपुत्रोंने मगध राज्यकी समृद्धिके साथ२ जैनधर्मकी महान् सेवा और प्रभावना की थी।

जम्बूकुमार।

श्रेणिककी राजधानी राजगृह नगरी थी। वहांपर अर्हदास नामके एक धर्मात्मा सेठ रहते थे, जिनकी पत्नी जिनमती थी। फाल्गुन मासके शुक्ल पक्षमें एक अच्छेसे दिन जब चन्द्रमा रोहिणी नक्षत्र पर था तब प्रातः समय उस सेठानीकी कोखसे एक पुत्र-रत्नका जन्म हुआ। माता-पिताने उसका नाम जम्बूकुमार रक्खा। जम्बूकुमारने युवा होनेर सब ही शस्त्रशास्त्र विषयक विद्याओंमें योग्यता प्राप्त कर ली। राजदरबारमें भी इनकी मान्यता होगई। सम्राट् श्रेणिक इनका खूब सन्मान करते थे।

१—'भारि०' (अक्टूबर १९३०) पृ० ४३८

२—संजैइ० भा० १ अंक १ पृ० १२–२१

केरल विजय ।

उस समय दक्षिण भारतके केरल देशमें एक विद्याधर राजा राज्य करता था। उस ओर विद्याधर वंशके राजाओंने प्राचीनकालसे अपना आधिपत्य जमा रक्खा था। बस, केरलके उस विद्याधर राजाका नाम मृगांक था। सम्राट् श्रेणिकसे उसकी मित्रता थी। मृगांकपर हंसद्वीप (लंका) के राजा रत्नचूलने आक्रमण किया था। मृगांककी सहायताके लिये श्रेणिकने जम्बूकुमारके सेनापतित्वमें अपनी सेना भेजी थी।

जम्बूकुमारने वीरतापूर्वक शत्रुका संहार किया था। इस युद्धमें उनके हाथसे आठ हजार योद्धाओंका संहार हुआ था। उपरांत मृगांकने अपनी कन्या विलासवतीका विवाह श्रेणिकके साथ किया था। जब श्रेणिक केरल गये हुये थे तब उन्होंने विन्ध्याचल और रेवा नदीको पार करके कुरल नामक पर्वतपर विश्राम किया था और वहांपर स्थापित जिन बिम्बोंकी पूजा-अर्चना की थी।[1]

दक्षिण भारतके इतिहाससे यह सिद्ध है कि प्राचीन कालमें हंसद्वीप (लंका) और तामिल-पाण्ड्यादि दक्षिण देशवासियोंके मध्य परस्पर आक्रमण होते रहते थे। उधर यह भी प्रगट है कि नन्द-

---

१-'जम्बूकुमार चरित्' में विशेष परिचय देखो—

'ततस्तां च समुत्तीर्य प्रतस्थे केरलां प्रति।
विशश्राम कियत्कालं नाम्ना कुरलभूधरे ॥१४३॥७॥
पूजयामास भूमीशस्तत्र बिंबं जिनेशिनः।
मुनीनपि महाभक्त्या ततः प्रस्थातुमुद्यतः ॥१४४॥

राजाओंने दक्षिण भारतपर आक्रमण किये थे। इस अवस्थामें यह संभव है कि श्रेणिकने राजा मृगांककी सहायता की हो।

केरल विजय करके श्रेणिक और जम्बूकुमार लौटकर सानन्द राजगृह आये और खूब विजयोत्सव मनाया।

एक रोज जम्बूकुमारका समागम मुनिराज श्री सुधर्माचार्यसे हुआ, जिनसे उन्होंने अपने पूर्वभव सुने। उन्होंने जाना कि सुधर्माचार्य उनके पूर्वभवके भाई हैं। वह भी भाईकी तरह मुनि होजानेके लिये उद्यमी होगये; परन्तु सुधर्माचार्यने उन्हें उस समय दीक्षित नहीं किया। जम्बूकुमार माता पिताकी आज्ञा लेनेके लिये घर चले गये। वहां उन्हें पितृगणके विशेष आग्रहसे विवाह करना पड़ा; परन्तु उन्होंने नववधुओंके साथ रहकर रतिक्रीड़ामें समय नहीं गंवाया। उन सबको समझा बुझा कर वे दिगम्बर मुनि होगये।

विद्युच्चर।

जिस समय जम्बूकुमार अपनी पत्नियोंको समझा रहे थे उस समय विद्युच्चर नामका चोर उनकी बातें सुन रहा था, जिनका उसपर गहरा असर पड़ा। और वह भी अपने पांचसौ शिष्यों सहित जम्बूकुमारके साथ मुनि होगया। यह विद्युच्चर दक्षिण-पथके प्रसिद्ध नगर पोदनपुरके [illegible] थे। इन्होंने चोरी शास्त्रका अध्ययन किया था और उसके अभ्यास

१–उपु० पृ० [illegible] "जम्बूकुमार चरित" में इन्हें हस्तिनापुरके राजाका पुत्र लिखा है; परन्तु वह विद्युच्चर इनसे भिन्न और भ० पार्श्वनाथके तीर्थमें हुये थे।

करनेके लिये राजगृह चला आया था। दक्षिण भारतके देशोंमें उसने खासा भ्रमण किया था।

समुद्रके निकट स्थित मलयाचल पर्वतपर वह पहुंचा था। वहांसे वह सिंहलद्वीप भी गया था; जहांसे वापिस लौटकर वह केरल आया था। द्रविड देशको उसने जैन मंदिरों और जैनियोंसे परिपूर्ण देखा था। फिर वह कर्णाटक काम्बोज, कांचीपुर, सह्यार्वत, महाराष्ट्रादिमें होता हुआ विंध्याचलके उस पार आभीर देश, कोङ्कण, किष्किन्धादिमें पहुंचा थी। इस वर्णनसे भी उस समय दक्षिण भारतमें जैन धर्मका अस्तित्व प्रमाणित होता है।

जम्बूकुमार और विद्युच्चरने अपने साथियों सहित भगवान् सौधर्माचार्यसे मुनि दीक्षा ग्रहण की थी। विपुलाचल पर्वत परसे जब सुधर्मस्वामी मुक्त हुये तब जम्बूस्वामी केवलज्ञानी हुये।

१—"दक्षिणस्यां दिशि प्राप्य समुद्रं मलयाचलम्।
पटीरादिद्रुमाकीर्णमप्रे[illegible]तमन्ह[illegible]म् ॥ २१५ ॥
आगम्यं हि सिंहद्वीपं केरलं देशमुत्तमम्
द्रविडं चैत्यगृहागमं जैनलोकपरिवृतम् ॥ २१६ ॥
चीणं कर्णाटसंज्ञं च काम्बोजं कौतुकावहम्।
कांचीपुरं सुकांत्या वै कांचनाभं मनोहरम् ॥ २१७ ॥
कौशलं च समासाद्य सह्यपर्वतमुन्नतम्।
महाराष्ट्रं च वैदर्भदेशं नानावनाकुलम् ॥ २१८ ॥
विन्ध्यं नर्मदातरं प्रदेशं विध्यदर्शनम्
विन्ध्याटवीं समुल्लंघ्य ता[illegible]ज्वलितवह्निमम् ॥ २१९ ॥ इत्यादि।
—जम्बू० पृ० १८८.

उन्होंने मगधादि देशोंमें धर्मप्रचार किया और आखिर विपुलाचल पर्वतपरसे वह भी निर्वाण पधारे।

एकदा विद्युच्चर अपने पांचसौ साथियों सहित मथुराके उद्यानमें आ विराजे; जहां उन पर घोर उपसर्ग हुआ। सब मुनियोंने समतापूर्वक समाधिमरण किया। उनकी पवित्र स्मृतिमें वहां पांचसौ स्तूप निर्माण किये गये थे, जो अकबर बादशाहके समय तक वहां विद्यमान थे।[1]

नन्द और मौर्य्य सम्राट्।

नन्द–राजा।

शिशु नागवंशके प्रतापी राजाओंके पश्चात मगध साम्राज्यके अधिकारी नन्दवंशके राजा हुये थे। उस समय मगधका शासक ही भारतवर्षका प्रमुख और अग्रगण्य नृप अथवा सम्राट् समझा जाता था। इसी कारण मगधका अधिकार पाते ही नन्दराजा भी भारतके प्रधान शासक समझे जाने लगे। यहां तक कि विदेशी-यूनानी लेखकोंने भी नन्दोंकी प्रधानता और प्रसिद्धिका उल्लेख किया है।[2] इन नन्दोंमें सम्राट् नन्दवर्द्धन् और महापद्म मुख्य थे। नंदवर्द्धनने एक भारतव्यापी दिग्विजय की थी, जिसमें उसने दक्षिण भारतको भी विजय किया था।

दक्षिण भारतके एक शिलालेखसे यह स्पष्ट है कि नन्दरा-

१–जम्बू० पृ० १०–११. मथुरामें विद्युच्चरकी स्मृतिमें स्तूपोंका होना इस कथानककी सत्यताका प्रमाण है। २–एइम०, पृष्ठ १३९।

जाओंने कुन्तलदेश पर शासन किया था और कदम्ब वंशके राजा उन्हें अपना पूर्वज मानते थे ।[1] कुन्तलदेश आजकलके पश्चिमीय दक्खिन (Deccan) और उत्तरीय मैसूर जितना था । दक्षिणभारतके होसकोटे जिलेमें नन्दगुडि नामक ग्राम उत्तुङ्गभुज नामक राजाकी राजधानी बताई जाती है और कहा जाता है कि नंदराजा उसके भतीजे थे । उसने उनको कैद कर लिया था; परन्तु उन्होंने मुक्त होकर अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित किया था ।[2] परन्तु कहा नहीं जा सकता कि इस जनश्रुतिमें कितना तथ्य है, तो भी यह स्पष्ट है कि नंद साम्राज्यका विस्तार दक्षिण भारत तक था । कुंतलदेश नन्दराजाओंके शासनाधीन था !

मौर्य्य-सम्राट् ।

नन्दराजाओंके[3] पश्चात् भारतके प्रधान शासक मौर्य्यवंशके शासक हुये । चन्द्रगुप्त मौर्य्यने अन्तिम नंदराजा और उसके सहायकोंको परास्त करके मगध साम्राज्य पर अपना अधिकार जमाया था । उधर पश्चिमोत्तर सीमा प्रांतसे यूनानियोंको खदेड़कर चन्द्रगुप्तने उत्तर भारतमें अफगानिस्तान तक अपना राज्य स्थापित किया था । और यह प्रगट ही है कि दक्षिण भारतके एक भागको नन्द राजाओंने ही मगध साम्राज्यमें मिला लिया था । इसलिये चन्द्रगुप्तका अधिकार स्वतः उस प्रदेशपर होगया था । एक शिलालेखमें स्पष्ट कहा गया है कि शिकारपुर तालुकके नाग-

१-इका० ७, शिकारपुर २२५ व २३६, मैकु० पृष्ठ ३ व जमीसो० भा० २२ पृष्ठ ५०४ । २-जमीसो० भा० २२ पृष्ठ ५०५ ।

खण्डकी रक्षा प्राचीन क्षत्रिय-चारित्र-आश्रय-चन्द्रगुप्त करते थे।[1] चन्द्रगुप्तने कृष्णा नदीके किनारेपर भी शालममें एक नगर भी बसाया था। किन्तु मालूम होता है कि मौर्योंको उपरान्त दक्षिण भारतमें अधिकाधिक राज्य विस्तारकी आकांक्षा हुई थी। तदनुसार मौर्य्योंने तामिल देशपर आक्रमण किया था।

मौर्य्योंके इस आक्रमणका उल्लेख तामिलके प्राचीन 'संगम्' साहित्यमें मिलता है। संगम कवि मामूलनार, परनर, प्रभृतने अपनी रचनाओंमें मौर्य्य-आक्रमणका वर्णन किया है। उससे ज्ञात होता है कि दक्षिणके तीनों प्रधान राज्यों-चेर, चोळ, और पांण्ड्यने मिलकर मौर्य्योंका मुकाबिला किया था।

तामिल सेनाके सेनापति पाण्डियनूनेदुन्चेलियन नामक महानुभाव थे। मोहूरका राजा उनका सहायक था। उधर मौर्य्योंके सहायक वेडुकर अर्थात् तेलुगु लोग थे। तामिलोंसे पहला मोरचा वडुकर लोगोंने ही लिया था; परन्तु तामिलोंसे वे बुरी तरह हारे थे। इसपर स्वयं मौर्य्य सम्राट् रणाङ्गणमें उपस्थित हुये थे और घमासान युद्ध हुआ था; किन्तु वेङ्कट पर्वतने मौर्य्योंको आगे नहीं बढ़ने दिया था। फिर भी यह प्रगट है कि मौर्य्य मैसूर तक पहुंच गये थे। साथ ही विद्वानोंका अनुमान है कि दक्षिण भारतपर यह आक्रमण सम्राट् बिन्दुसार द्वारा हुआ था। क्योंकि अशोकने

१–सोराबस्त नं० २६३ का शिलालेख, जो १४ वीं शताब्दिका है। मकु० पृष्ठ १० एपि० भा० ९ पृष्ठ ९९। २–जमीसो०, भाग १८ पृष्ठ १९९–१९६। ३–जमीसो०, भाग २२ पृष्ठ ९०९।

केवल एक कलिङ्गका युद्ध लड़ा था परन्तु उसके शासन लेख मैसूर तक मिलते हैं। इस प्रकार मौर्य्योंका शासन दक्षिण भारतमें मैसूर प्रान्त तक विस्तृत था।

सम्राट् अशोक।

सम्राट् अशोकके धर्मशासन-लेख मैसूरके अति निकट मिले हैं। ब्रह्मगिरि, सिद्धपुर, जटिङ्ग, रामेश्वर पर्वत, कोप्पल और बेरुन्गाड़ी नामक स्थानोंसे उपलब्ध अशोक लेख वहांतक मौर्यशासनके विस्तारके द्योतक हैं। किन्तु 'ब्रह्मगिरि' के धर्म-लेखमें सम्राट् माता-पिता और गुरुकी सेवा करनेपर जोर देते हैं, यह एक खास बात है।[1] यह शायद इसलिये है कि यह धर्मलेख मैसूरके उस स्थानसे निकट अवस्थित है जहांपर अशोकके पितामह सम्राट् चन्द्रगुप्तने आकर तपस्या की थी। श्रवणबेलगोलसे ही चंद्रगुप्तने स्वर्गारोहण किया था।

अशोकने अपने पितामहके पवित्र समाधिस्थानकी वन्दना की थी।[2] मालूम होता है, इसीलिये उन्होंने ब्रह्मगिरिके धर्मलेखमें खास तौरपर गुरु और माता-पिताकी सेवा करनेकी शिक्षाका समावेश किया था। प्रो० एस० आर० शर्मा यह प्रगट करते हैं।[3] और यह हम पहले ही प्रमाणित कर चुके हैं कि बौद्ध होनेसे पहले अशोक जैनी था और अपने शेष जीवनमें भी उसपर जैन धर्मका काफी प्रभाव रहा था। अशोकने जैनोंका उल्लेख निर्ग्रन्थ और श्रमण नामसे किया था।

१-अब० पृष्ठ ९४-९६। २-संजैइ०, भा० २ खण्ड १ पृष्ठ २२९-२७०। ३-जैसइं०, अध्याय २।

किन्तु मौर्य सम्राटोंमें चन्द्रगुप्तका ही सम्बन्ध दक्षिण भारतमे विशेष और महत्वशाली रहा है।

सम्राट् चन्द्रगुप्त! एक शासकके रूपमें ही वह सम्राट् दक्षिण भारतीयोंके परिचयमें आये हों केवल इतना ही नहीं, बल्कि वह उनके बीचमें एक पूज्य साधुके भेषमें विचरे थे। जैन शास्त्रों और शिलालेखोंमे प्रगट है[1] कि जिस समय सम्राट् चन्द्रगुप्त भारतका शासन कर रहे थे उस समय उत्तर भारतमें एक भयंकर दुष्काल पड़ा, जिसके कारण लोग त्राहि त्राहि करने लगे। इस समय जैन संघका प्रधान केन्द्र मगध था और श्रुतकेवली भद्रबाहु और आचार्य स्थूलभद्र संघके नेता थे। भद्रबाहुस्वामीने इस दुष्कालका होना अपने दिव्यज्ञानसे जानकर पहले ही घोषित कर दिया था।

सम्राट् चन्द्रगुप्त इन आचार्योंके शिष्य थे। उन्होंने जब गुरु भद्रबाहुजीसे दुस्सह दुष्कालके समाचार सुने तो उन्होंने अपने पुत्रको राजतिलक कर दिया और स्वयं मुनिदीक्षा लेकर श्रुतकेवलीके साथ हो लिये। भद्रबाहुस्वामी संघको लेकर दक्षिण भारतकी ओर चले गये। मैसूर प्रांतमें श्रवणबेलगोलके निकट कटवप्र पर्वतपर वह ठहर गये, और संघको आगे चोलदेशमें जानेके लिये आदेश दिया। मुनि चन्द्रगुप्त उनकी वैयावृत्तिके लिये इनके साथ रहे थे।

वहीं तपश्चरण करते हुये भद्रबाहुस्वामी स्वर्गवासी हुये थे

१-संजैइ०, भा० २ खंड १ पृ० २०३-२१८, श्रव० ३०-३२ जैशिसं० भूमिका।

और चन्द्रगुप्त मुनिने भी वहींसे समाधिमरण द्वारा स्वर्गलाभ किया था। उत्तर भारतसे जैन संघके दक्षिण आगमनकी इस बातोंके पोषक दक्षिण भारतके वे स्थान भी हैं जहां आज भी बताया जाता है कि इस संघके मुनिगण ठहरे थे। अर्काट जिलेका तिरुमलय नामक स्थान इस बातके लिये प्रसिद्ध है कि वहां भद्रबाहुजीके संघवाले मुनियोंमेंसे आठ हजार ठहरे थे।

वहाँ पर्वत पर डेढ़ फुट लम्बे चरणचिह्न उसकी प्राचीनताके द्योतक हैं।[1] इसी प्रकार हस्सन जिलेके हेमवृत्तनगर (जो हेमवती नदीके तटपर स्थित था।) के विषयमें कहा जाता है कि वहाँ श्रुत-केवली भद्रबाहुजीके संघके मुनि उत्तर भारतसे आकर ठहरे थे।[2] उधर तामिल भाषाके प्रसिद्ध नीतिकाव्य 'नालादियार' की रचना विषयक कथासे स्पष्ट है[3] कि उत्तर भारतमें दुर्भिक्षके कारण पीड़ित हुये आठ हजार मुनिगण पाण्ड्यदेश तक पहुंचे थे। पाण्ड्यनरेश उग्रपेरुवलीने उनका स्वागत किया था।

पाण्ड्यनरेश उनकी विद्वत्तापर ऐसा मुग्ध हुआ कि वह उनसे अलग नहीं होना चाहता था। हठात् मुनियोंने अपनी धर्मरक्षाके लिये चुपचाप वहांसे प्रस्थान कर दिया; परन्तु चलनेके पहले उन्होंने एक एक पद्य रचकर अपनेर आसन पर छोड़ दिया; यही 'नाला-डियार' काव्य बन गया। सारांशतः इन उल्लेखों एवं अन्य शिला-

१-मप्राजैस्मा० पृष्ठ ७४। २-जैसिकु०, भा० २ पृष्ठ २०६। ३-जैहि० भाग १४ पृष्ठ ३३२ ज्ञात नहीं कि पाण्ड्य नरेशका समय क्या है!

लेखादिसे सम्राट् चन्द्रगुप्तका मुनि होकर श्रुतकेवली भद्रबाहुजीके साथ दक्षिणभारतमें आना स्पष्ट है।

इन मुनियोंके आगमनके कारण वहां पहलेसे प्रचलित जैन धर्मको विशेष प्रोत्साहन मिला प्रतीत होता है। किन्तु इसी समय उत्तरभारतमें अभाग्यवश जैन संघ मतभेदका शिकार बन गया था; जिसके परिणामस्वरूप इसका एकधारारूप प्रवाह इधर उधर बह चला था। श्वेताम्बर संप्रदायके पूर्वरूपमें 'अर्द्धफालक' मान्यतावालोंका जन्म इसी समय होगया था और उपरांत वही विकसित होकर ईस्वी प्रथम शताब्दिमें स्पष्टतः श्वेताम्बर संप्रदायके नामसे प्रख्यात होगया था। मूल जैन संघके अनुयायी निर्ग्रंथ कालांतरमें 'दिगंबर' नामसे प्रसिद्ध होगये थे। यह सब बातें हम पहले ही लिख चुके हैं।[१]

चाणक्य।

सम्राट् चन्द्रगुप्तके प्रसिद्ध मंत्री चाणक्यके विषयमें भी कहा जाता है कि वह जैन धर्मानुयायी थे और अपने अन्तिम जीवनमें वह जैन साधु हो गये थे। आखिर वह आचार्य हुये थे और अपने पांचसौ शिष्यों सहित देश-विदेशमें विहार करके वह दक्षिण भारतके बनवास नामक देशमें स्थित क्रौंचपुरमें आ विराजे थे। वहीं उन्होंने प्रायोपगमन सन्यास किया था।[२] एक जनश्रुति चाणक्यको 'शुक्रतीर्थ' में एकान्तवास करते बताती है। संभव है कि यह 'शुक्रतीर्थ' जैनोंका बेल्गोल या 'धवलसर' तीर्थ

१-संजैइि० भाग २ खण्ड १ पृष्ठ २०३-२१७

२-पूर्व पुस्तक पृष्ठ २३९-२४२।

हो ।[1] इन्हीं बातोंको देखते हुये विद्वज्जन जैन मान्यताको विश्वसनीय प्रगट करते हैं ।[2]

सम्राट् सम्प्रति ।

चन्द्रगुप्तके समान ही उसका पोता सम्प्रति भी जैन धर्मका अनन्य भक्त था । वह धर्मवीर होनेके साथ ही रणवीर भी था । कहते हैं कि उसने अफगानिस्तानके आगे तुर्क, ईरान आदि देशोंको भी विजय किया था । इन देशोंमें सम्प्रतिने जैन विहार बनवाये थे और जैन साधुओंको वहां भेजकर जनतामें जैन धर्मका प्रचार कराया था । विदेशोंके अतिरिक्त भारतमें भी सम्प्रतिने धर्मप्रभावनाके अनेक कार्य किये थे । उन्होंने दक्षिण भारतमें भी अपने धर्मप्रचारक भेजे थे ।[3]

किन्तु सम्प्रतिके बाद मौर्य्यवंशमें कोई भी योग्य शासक नहीं हुआ । परिणाम स्वरूप मौर्य्य साम्राज्य छिन्नभिन्न होगया और दक्षिण भारतके राज्य भी स्वाधीन होगये । अशोकके एक धर्म-

---

१–जसइं० पृष्ठ ९ ।

२–" This co-incidence, if it were merely accidental, is certainly significant. Apart from minor details, this confirms the opinion of Rhys Devids that ' the linguistic and epigraphical evidence so far available confirms in many respects the general reliability of the traditions current among the Jains... "—

—Prof. S. R. Sharma, M. A.

३–संजैइं० भा० २ खण्ड १ पृष्ठ १९३–१९९ ।

लेखसे यह स्पष्ट है कि दक्षिणके चेर, चोल, पाण्ड्य राज्य पहलेसे ही स्वाधीन थे और मौर्योंके बाद आन्ध्रवंशी बलवान होगये।

आन्ध्र-साम्राज्य।

नर्मदा और विन्ध्याचलके उपरान्त दक्षिण दिशाके सब ही प्रांत 'दक्षिणापथ'के नामसे प्रसिद्ध थे।[1]

दक्षिण भारतके दो भाग।

परन्तु राजनैतिक दृष्टिसे उनके दो भाग हो जाते हैं। पहले भागमें वह प्रदेश आता है जो उत्तरमें नर्मदा तथा दक्षिणमें कृष्णा और तुङ्गभद्राके बीच है। और दूसरे भागमें वह त्रिकोणाकार भूभाग आता है जो कृष्णा और तुङ्गभद्रा नदियोंसे आरम्भ होकर कुमारी अंतरीपतक जाता है। यही वास्तवमें तामिल अथवा द्राविड़ देश है। इन दोनों भागोंकी अपेक्षा इनका इतिहास भी अलग अलग होजाता है। तदनुसार यहां हम मौर्योंके बाद पहले भाग पर अधिकारी आन्ध्रवंशके राजाओंका परिचय लिखते हैं।

आन्ध्र राजा।

अशोकके उपरान्त आन्ध्रवंशके राजा स्वाधीन होगये थे। यह लोग शातवाहन अथवा शालिवाहनके नामसे भी प्रसिद्ध थे।[2] और इनके राज्यका आरम्भ ईस्वी पूर्व ३०० के लगभग हुआ था। चंद्रगुप्तके समयमें तीस बड़े बड़े प्राचीरवाले

१-गैब०, पृ०१३३ यूनानियोंने इसे 'दखिनबदेस' (Dakhinabades) कहा था। २-मैकु०, पृष्ठ १९। ३-कामाइ०, पृ०१९१।

नगर आन्ध्र राज्यके अंतर्गत थे। आन्ध्रोंकी सेनामें एक लाख प्यादे, दो हजार सवार और एक हजार हाथी थे। यूनानी लेखकोंने इन्हें एक बलवान शासक लिखा है। अशोकके मरते ही इन्होंने अपने राज्यको बढ़ाना प्रारम्भ कर दिया और सन् २४० या २३० ई० पूर्वके लगभग पश्चिमी घाट पर गोदावरीके उद्भवके समीप नासिक-नगर उनके राज्यमें सम्मिलित होगया। धीरे-धीरे सारे दक्षिण प्रदेश पर समुद्रसे समुद्र पर्यन्त उनका राज्य होगया।[१] कहते हैं, मगधको भी आन्ध्रोंने, खारवेलके साथ जीत लिया था।[२] कलिङ्गके जैन सम्राट् खारवेलने आन्ध्र सम्राट् शातकर्णीको परास्त किया था।[३]

इसीसे अनुमानित है कि मगधविजयमें वह खारवेलके साथ रहे थे। उनके समयमें पश्चिमकी ओरसे शक-छत्रपोंके आक्रमण भारत पर होते थे। आन्ध्रोंने उनसे बचनेके लिये अपनी राजधानी महाराष्ट्रके हृदय प्रतिष्ठान (पैठन) में स्थापित की थी। इनका पहला राजा सिमुक या सिन्धुक नामक था। इनका सारा राजत्वकाल करीब ४६० वर्ष बताया जाता है, जिसमें इनके तीस राजाओंने राज्य किया था।[४]

गौतमीपुत्र शातकर्णि। इस वंशके राजाओंमें गौतमी पुत्र शातकर्णि नामक राजा प्रख्यात था। नासिकके एक शिलालेखमें उसे 'राजाधिराज' और असिक, अश्मक मूलक, सुराष्ट्र, कुकुर, अपरान्त, अनूप, विदर्भ और आकरावन्ती नामक देशों पर शासन करने लिखा

१–जैब०, पृ० १६४–१७२। २–कुऐइं०, पृ० १९। ३–जबिओसो०, भा० ३ पृ० ४४२। ४–कामाइ०, पृ० १९१।

है। अनेक राजा-महाराजा उसकी सेवा करते और आज्ञा मानते थे। वह शरणागतोंकी रक्षा करता और प्रजाके सुख-दुःखको अपना सुख दुःख समझता था। वह विद्वान, सज्जनोंका आश्रय, यशका आगार, चारित्रका भंडार, विद्यामें अद्वितीय और एक ही धनुर्धर वीर था।

उसने शक, यवन और पल्हवोंकी संयुक्त सेनाको परास्त करके भारतको महान संकटसे मुक्त किया था।[1] इसी कारण वह 'विक्रमादित्य'के नामसे प्रसिद्ध हुआ था। उसका राजत्वकाल ई० पूर्व १००-४४ बताया जाता है। प्रारम्भमें उसने ब्राह्मणोंके धर्मका पालन किया था, परन्तु अपने अंतिम जीवनमें वह एक जैन गृहस्थ होगया था। शकविजयकी स्मृतिमें उसका एक संवत भी आरम्भ हुआ था जो आज तक प्रचलित है।[2]

व्यापार।

गौतमीपुत्रके अतिरिक्त इस वंशके राजाओंमें हाल और कुन्तलशातकर्णि भी उल्लेखनीय हैं। हाल अपनी साहित्यिक रचनाओंके लिए प्रसिद्ध हैं और कुन्तलने सन् ७८ ई० में पुनः शकोंको हराकर आंध्रसाम्राज्यको स्वाधीन बनाया था। शालिवाहन शक इसी घटनाकी स्मृतिमें प्रचलित हुआ था।

आन्ध्रकालमें देश समृद्धिशाली हुआ था। लोगोंमें उत्साह और मानसिक संचार हुआ था, जिससे उन्होंने जीवनके प्रत्येक

१–भाइं०, पृष्ठ १४९। २–विक्रमादित्य गौतमीपुत्र शातकर्णिका विवेचनात्मक वर्णन 'संक्षिप्त जैन इतिहास' भाग २ खंड २ पृ०–६१–६६ में देखना चाहिए।

अंगको उन्नत बनाया था। वणिज-व्यापार खूब ही वृद्धिको पहुंचा था। पश्चिमसे जहाज आकर भृगुकच्छके बन्दरगाहपर ठहरा करते थे। पैठनसे एक खास तरहका पत्थर और तगरपुर (तेरापुर) से मसलैन-मार्टनें, मारकीन आदि कपड़ा एवं अन्य वस्तुयें भृगुकच्छ गाड़ियोंमें ले जाई जाती थीं और वहांसे जहाजोंमें लदकर पश्चिमके देशों यूनान आदिको चली जाती थीं। सोपारा, कल्याण, सेमुल्ल इत्यादि नगर व्यापारकी मंडियां थीं। लोगोंके लिये आने-जानेकी काफी सुविधा और उनकी रक्षाका समुचित प्रबन्ध था। भारतीय व्यापारी निश्चिंत होकर देश-विदेशमें व्यापार करके समृद्धिको प्राप्त होरहे थे।[1]

साहित्य।

वाणिज्यके अनुरूप ही साहित्यकी भी आन्ध्रकालमें अच्छी उन्नति हुई थी। आन्ध्रवंशके अनेक राजा साहित्यरसिक थे और उनमेंसे किन्हींने स्वयं ही रचनायें भी रची थीं। सम्राट् हालकी 'गाथा सप्तशती' प्रसिद्ध ही है। परन्तु यह बात नहीं है कि आन्ध्र कालमें केवल प्राकृत भाषाकी ही उन्नति हुई हो, बल्कि संस्कृत भाषाको भी इस समय प्रोत्साहन मिला था। प्राकृत भाषाका प्रमुख ग्रन्थ 'बृहत्कथा' था, जो महाकवि गुणाढ्यकी रचना थी।[2]

कहा जाता है कि गुणाढ्यने काणभूति नामक आचार्यसे जानकर कथासाहित्यका यह अद्वितीय ग्रन्थ रचकर सालिवाहन राजाको भेंट किया था। यह काणभूति एक जैनाचार्य प्रगट होते हैं।[3] उधर

१-भागे० पृष्ठ १७४-१७६। २-भागे० पृष्ठ १७०-१७१।
३-'वीर'का 'कहानी-अङ्क' देखो।

संस्कृत भाषाका अपूर्व व्याकरण 'कातन्त्र' भी एक शालिवाहन राजाके लिये रचा गया था! कहते हैं कि यह भी एक जैनाचार्यकी कृति थी। जैन विद्यालयोंमें इसका पठनपाठन आज भी होता है।

धर्म्म। लोगोंमें वैदिकधर्मके साथ-साथ बौद्धधर्म और जैनधर्मका भी प्रचार था। सामाजिक संस्थायें प्रायः सुदूर दक्षिण देश जैसी ही थीं।[1] 'कालकाचार्यकथानक'से प्रगट है कि पैठनके राजाके वह गुरु थे। जैन मुनियों और आर्यिकाओंका आवागमन राजप्रासादमें भी था; राजा और प्रजाको जैन गुरु धर्मकी शांति और सुखकर शिक्षा दिया करते थे। उनका धर्मोपदेश बहुकर्षणकारी भी था। यही वजह है कि गौतमीपुत्र और हालके विषयमें अनुमान किया जाता है कि वे जैनधर्मानुयायी होगये थे। आन्ध्रदेश सघन वनों, पर्वतों और उपत्यकाओंसे परिपूर्ण था। प्रकृतिप्रिय जैनोंका ध्यान इस देशके सौन्दर्यकी ओर आकृष्ट हुआ। उनके संघ वहाँ पहुंचे और अपनी-अपनी 'पल्लि' स्थापित करके बस गये।[2] सारा देश जैन मंदिरोंसे अलंकृत और जैन मुनियोंके धर्मोपदेशसे पवित्र होगया।

१-"The Andhra or Satavahana rule is characterised by almost the same social features as the further south; but in point of religion they seem to have been great patrons of the Jains and Buddhists."-S. Krishnaswami Aiyangor in the Ancient India, page 34.

२-साईबं०, भा० २ पृष्ठ ८९।

सुदूर दक्षिणके राज्य।

(द्राविड़-राज्य)

द्राविड़ राज्योंकी सीमायें।

गोदावरी और फिर कृष्णा एवं तुङ्गभद्रासे परे दक्षिण दिशामें जो भी प्रदेश था वह तामिल अथवा द्राविड़ नामसे परिचयमें आता था। यह द्राविड़ अथवा तामिलदेश तीन भागों अर्थात् चेर, चोल और पाण्ड्य मण्डलोंमें विभक्त था। पाण्ड्यमंडल 'पण्डि नाडु' नामसे विख्यात् था और वह वर्तमानके मदुरा जिला जितना था।[1] अशोकके समयमें पांड्य राज्यमें मदुरा और तिनावलीके जिले गर्भित थे।[2] मदुरा उसकी राजधानी थी, जो एक समय समृद्धिशाली बहुजनाकीर्ण और परकोटसे वेष्टित नगर था। पांड्योंका दूसरा प्रमुख नगर कोर्कै (Korkai) था।

चोलमंडलका दूसरा नाम 'पुनलनाडु' था और उरैयुर (उरगपुर) उसकी राजधानी थी, जो वर्तमानके ट्रिचनापली नगरके सन्निकट अवस्थित थी।[3] चोल राज्यका विस्तार कांगेमण्डल जितना था। पुकर अर्थात् कावेरीपम्पट्टनम् चोलोंका प्रधान बन्दरगाह था। प्राचीनकालमें चेरमण्डलका विस्तार मैसूर, कोइम्बटोर, सलेम, दक्षिण मालाबार, ट्रावनकोर और कोचीन जितना था। इनकी राजधानी करूर अथवा

१-जमीसो०, भा० १८ पृष्ठ २१३। २-लाभाइ० पृ० २८६।
३-जमीसो०, भा० १८ पृ० २१३। ४-लाभाइ० पृ० २८६।

केरल थी और पाण्ड्यदेश इससे पश्चिममें था। यह तीन राज्य ही दक्षिण भारतमें प्रमुख थे।

शिलालेख और द्राविड़ राज्य।

दक्षिणके इन तीनों राज्योंका उल्लेख सम्राट् अशोकके धर्मलेखमें हुआ है।[२] और सम्राट् खारवेलके शिलालेखमें भी इनका उल्लेख मिलता है।[३] परन्तु साहित्यमें इन तीनों राज्योंका अस्तित्व एक अति प्राचीनकालसे सिद्ध होता है। 'कात्यायन-वार्तिका' में पाण्ड्य, चोल आदिका उल्लेख है।[४] पातञ्जलिने इसी प्रकार माहिष्मती, वैदर्भ काञ्चीपुर और केरलका उल्लेख किया है।[५] 'महाभारत' (वनपर्व ११८) में द्राविड़ देशकी उत्तरीय सीमायें गोदावरी नदीका उल्लेख है। यूनानी लेखकों टोल्मी आदिने भी इन देशोंका उल्लेख किया है।[६]

जैन साहित्यमें द्राविड़ राज्य।

उधर जैन साहित्यसे भी चेर, चोल और पाण्ड्य राज्योंका प्राचीन अस्तित्व प्रमाणित है। महाराज कृष्णका युद्ध जब जरासिंधुसे होरहा था तब द्राविड़ देशके राजा भी उनके पक्षमें थे।[७] मालूम होता है कि पाण्डवोंके दक्षिण मथुरामें राज्य स्थापित करनेके कारण उन राज्योंका सम्पर्क उत्तर भारतीय राज्योंसे घनिष्टतामें परिणत होगया था। चेर-चोल-

---

१-कच० पृष्ठ २५०। २-अघ० पृष्ठ ११३-११९। ३-जबिओसो० भा० ३ पृ० ४४६। ४-भाग० पृ० १३८। ५-महाभाष्य, ३.१, १९। ६-भाग० पृ० १३८-१४२। ७-हरि० पृ० ४६८।

पाण्ड्य. इन द्रविड़ राज्योंका युधिष्ठरादि पाण्डवोंसे गहरा सम्बन्ध था। विदित होता है कि जिस समय पल्लवदेशमें विराजमान भगवान् अरिष्टनेमिके निकट पाण्डवोंने जिनदीक्षा ली थी, उसी समय इन द्रविड़ राजाओंने भी मुनिव्रत धारण किया था। पाण्डवोंके साथ तप तपकर वह भी शत्रुंजयगिरिसे मुक्त हुये थे।[1]

भगवान् अरिष्टनेमिके तीर्थमें ही कामदेव नागकुमार हुये थे। नागकुमारका मित्र मथुराका राजकुमार महाव्याल था। यह महाव्याल पांड्यदेश गया था और पाण्ड्य राजकुमारीको व्याह लाया था।[2] इसके पश्चात् भ० पार्श्वनाथके तीर्थकालमें करकण्डु राजा हुये थे, जिन्होंने चेर, चोल और पाण्ड्य राजाओंको युद्धमें परास्त किया था। करकण्डुको यह जानकर हार्दिक दुःख हुआ था कि वे राजा जैनी थे। उन्होंने उनसे क्षमा चाही और उनका राज्य उन्हें देना चाहा; परन्तु वे अपने पुत्रोंको राज्याधिकारी बनाकर स्वयं जैन मुनि होगये थे।[3]

इन उल्लेखोंसे चेर, चोल, पाण्ड्य राज्योंका प्राचीन अस्तित्व ही नहीं बल्कि उनके राजाओंका जैनधर्मानुयायी होना भी स्पष्ट है। दक्षिणभारतमें अरुन्तर पर्वत, ऐवर मले, तिरुमूर्ति पर्वत इत्यादि

१–पंडुसुआ तिण्णि जणा दविडणरिंदाण अट्ठकोडिओ।
सेत्तुंजय गिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥''

२–'गंभीरविसयदुंदुहिणिणाउ–दाहिणमहुराहिउ पंडिराउ'
–णायकुमारचरिउ ८।२

३–करक० पृष्ठ ७९–८०।

स्थान ऐसे हैं जिनसे प्रगट होता है कि वहां पाण्डवादि प्राचीन महापुरुष पहुंचे थे।[1]

दक्षिणके इन तीनों राज्योंमें पाण्ड्य राज्य प्रधान था। राजत्वकी अपेक्षा ही नहीं बल्कि सभ्यता और संस्कृतिके कारण पाण्ड्यवंशको ही प्रमुख स्थान प्राप्त है। उनका एक दीर्घकालीन राज्य था और उसमें उन्होंने देशको खूब ही समृद्धिशाली बनाया था।[2] पाण्ड्यराज्य अति प्राचीन कालसे रोमवालोंके साथ व्यापार करता था। कहा जाता है कि पाण्ड्यराजाने सन् २५ ई० पू० में अगस्टस सीजरके दरबारमें दूत भेजे थे। यूंही लोगोंके साथ नग्न श्रमणाचार्य भी यूनान गये थे।[3] यूनानमें भारतीय कपड़ेकी बहुत खपत थी।

पाण्ड्य राज्य।

रोमन ग्रंथकार पीटर वीनसको इस बातका सन्देह था कि यूनानी रमणियां भारतीय परिधान पहनकर निर्लज्जताकी दोषी होती हैं। वह भारतकी मलमलको 'बुनी हुई पवन' के नामसे पुकारता है। प्लिनी एवं अन्य यूनानी लेखकोंने शिकायत की है कि यूनानका करोड़ों रुपया विलासिताकी वस्तुओंके मूल्यमें यूनानसे भारत चला जाता है। उस समय रुई, ऊन और रेशमके कपड़े बनते थे। ऊनके वस्त्रोंमें सबसे नफीस चूहोंकी ऊन गिनी जाती थी। रेशमके कपड़े तीस प्रकारके थे।[4] सारांश यह कि पांड्य राजत्वकालमें यहां विद्या, कला और विज्ञानकी खूब उन्नति हुई थी।

१—जमीसो० भा० २९ पृष्ठ ८८-८९। २—जमीसो०, भा० १८ पृ० २१३। ३—इंहिक्वा०, भा० २ पृष्ठ २९३। —कामाइ०, पृष्ठ २८७-२८८

पाण्ड्य विजय । पाण्ड्य राजके समयमें अर्थात् ईस्वी पूर्व तीसरी शताब्दिमें पाण्ड्य देशमें पानीका सैलाब आया था, जिसमें कुमारी और पहरूलि नामक नदियोंका मध्यवर्ती प्रदेश जल-मग्न होगया था । अपनी इस क्षतिकी पूर्ति पाण्ड्य राजने चोल-चेर राजाओंके कुन्दुर और मुत्तुर नामक जिलोंपर अधिकार जमाकर की थी । इस विजयके कारण यह पाण्ड्यराज नीलन्तरु तिरुवीर पाण्ड्यन् कहलाये थे । इन्हींके समयमें द्वितीय 'संगम् साहित्य परिषद' हुई थी ।[1]

वारुकुरुके पाण्ड्य । पाण्ड्यवंशकी इस मूल शाखाके अतिरिक्त दो अन्य शाखाओंका भी पता चलता है । ईस्वी प्रथम शताब्दिमें मधुरा पाण्ड्यवंशके एक देव पाण्ड्य नामक राजकुमार तौलव देशान्तर्गत वारुकुरुमें आ बसे थे । और वहीं किसी जैनीकी कन्यासे उनका व्याह हुआ था । कालान्तरमें वह वारुकुरुको राजधानी बनाकर शासनाधिकारी हुये थे । इनके उत्तराधिकारी इनके भानजे भूताल पाण्ड्य थे जो कदम्ब सम्राट्के आधीन राज्य करते थे । इसी समयसे पाण्ड्य देशमें निज पुत्रके स्थानपर भानजेको उत्तराधिकारी होनेका नियम प्रचलित हुआ था । भूतालके पश्चात् क्रमशः विद्युम्न पाण्ड्य (सन् १४८ ई०), वीर पाण्ड्य (सन् २६२ ई० तक), चित्रवीर्य पाण्ड्य (सन् २८१ ई०) देववीर पाण्ड्य

1—साइंजै०, भा० १ पृष्ठ ३८-३९ ।

(सन् २९० ई०), बल्लवीर पाण्ड्य (सन् ३१६ ई०) और जयवीर पाण्ड्य (सन् ३४३ ई०) ने राज्य किया था। इसके आगे इस पाण्ड्यवंशका पता नहीं चलता।[1]

कारकलके पाण्ड्य। पाण्ड्यवंशकी एक दूसरी शाखा कारकलमें राज्याधिकारी थी। जिस समय तौलव देशका शासन कापिट्टु हेग्गडे कर रहा था, उस समय प्रजा उसके दुःशासनके कारण ऊब गई थी। भाग्यवशात् कारकलमें हुम्बुचके शासक जिनदत्तरायके वंशज भैरव पाण्ड्य मूडबिद्री तीर्थकी यात्रा करके आ निकले। दुखी प्रजाने उनसे जाकर अपनी दुख गाथा कही। भैरव पाण्ड्यने हेग्गडेको बुलाकर समझाया, परन्तु उसपर उनके समझानेका कुछ भी असर नहीं हुआ। हठात् उन्होंने हेग्गडेको युद्धमें परास्त करके उसके प्रदेशपर अधिकार जमाया। इनके उत्तराधिकारी कारकलमें आरंह और निम्नलिखित शासकोंने वहां रहकर राज्यशासन किया था।

(१) पाण्ड्य देवरस या पाण्ड्य चक्रवर्ती, (२) लोकनाथ देवरस, (३) वीर पाण्ड्य देवरस, (४) रामनाथ अरस, (५) भैररस ओडेय, (६) वीर पाण्ड्य भैररस ओडेय, (७) अभिनव पाण्ड्यदेव, (८) हिरिय भैरवदेव ओडेय, (९) इम्मडि भैरवराय, (१०) पांड्यप्प ओडेय, (११) इम्मडि भैरवराय, (१२) रामनाथ और (१३) वीर पाण्ड्य।[2]

१—जैसिभा०, भा० ३ किरण ३ पृष्ठ ९२। २—पूर्व० पृष्ठ ९३।

पाण्ड्यराज्यमें उस समय धार्मिक सहिष्णुता भी प्रचुरमात्रामें विद्यमान थी। 'मणिमेखलै' नामक

धर्म्म।

तामिल महाकाव्यमें एक स्थल पर एक नगरके वर्णनमें कहा गया है कि 'प्रत्येक धर्मालयका द्वार हर भक्तके लिये खुला रहना चाहिये। प्रत्येक धर्माचार्यको अपने सिद्धांतोंका प्रचार और शास्त्रार्थ करने देना चाहिये। इस तरह नगरमें शांति और आनंद बढ़ने दीजिये।'[१] यही वजह थी कि उस समय ब्राह्मण, जैन और बौद्ध तीनों धर्म प्रचलित होरहे थे। लोगोंमें जैन मान्यतायें खूब घर किये हुये थीं, यह बात 'मणिमेखलै' और 'शीलप्पधिकारम्' नामक महाकाव्योंके पढ़नेसे स्पष्ट होजाती है। 'मणिमेखलै' में ब्राह्मणोंकी यज्ञशालाओं, जैनोंकी महान पल्लियों (hermitages), शैवोंके विश्रामों और बौद्धोंके संघारामोंका साथ-साथ वर्णन मिलता है।[२] यह भी इन काव्योंसे प्रगट है कि पाण्ड्य और चोल राजाओंने जैन और बौद्ध धर्मोंको अपनाया था। मथुरा जैन धर्मका मुख्य केन्द्र था।

'मणिमेखलै' का मुख्य पात्र कोवलन अपनी पत्नी सहित

१-जैमाइं०, पृष्ठ २९। २-वुस्ट०, पृष्ठ ३।

३-"It would appear that there was then perfect religious toleration, Jainism advancing so far as to be embraced by members of the royal family......The epics give one the impression that there two (Jain & Buddhist) religions were patronised by the Chola aswell as by the Pandym Kings."—साइंजै० पृष्ठ ४६-४७।

जिस समय मथुराको आगहा था तो मार्गमें एक जैनीने उन्हें सावधान किया था कि वे वहां पहुंचकर किसी जीवको पीड़ा न पहुंचायें और न हिंसा करें, क्योंकि वहां निर्ग्रन्थ (जैनी) इसे पाप बताते हैं। पुहरनगरमें जब इन्द्रोत्सव हुआ तो राजाने सब ही सम्प्रदायोंको निमंत्रित किया। जैनी भी पहुंचे और अपना धर्मोपदेश दिया, जिसके फलरूप अनेकानेक मनुष्य जैन धर्ममें दीक्षित हुए।[1]

'शीलप्पधिकारम्' काव्यसे प्रगट है[2] कि उसके मुख्य पात्र मथुराकी यात्रा करने गये थे। मथुरा उस समय तीर्थ समझा जाता था। वहां पासमें अनेक जैन गुफायें थीं, जिनमें जैन मुनि तपस्या किया करते थे। 'आराधना कथाकोष' से प्रगट है कि भ० महावीरके उपरान्त वहांपर एक गुप्तमाचार्य नामके महान् साधु हुये थे।[3] मदूराकी यात्राको चलकर वे पात्र पहले जैन साधुओंकी एक 'पल्लि' में ठहरे थे। वहां चिकने संगमरमरका चबूतरा था, जिसपरसे जैनाचार्य उपदेश दिया करते थे। उन्होंने उसकी परिक्रमा दे वन्दना की। वहांसे चलकर उन्हें कावेरी नदीके तटपर आर्यिकाओंका आश्रम मिला। देवन्थि आर्यिका मुख्य थीं, वह भी उनके साथ होलीं। जैन आर्यिकाओंका प्रभाव उस समय तामिल स्त्रीसमाजमें खूब था। आगे कावेरीके बीच टापूमें भी उन्होंने जैन साधुके दर्शन किये। सारांश यह कि उन्हें ठौर-ठौरपर जैन मुनियों और आर्यिकाओंके दर्शन होते थे। इससे वहां जैनधर्मका बहु प्रचलित होना स्पष्ट है।

१—साइंजै० पृष्ठ ४७—४८। २—जैसाइं० पृष्ठ २९। ३—आक०।

चोल प्रदेशका नाम चोलमण्डल था, जिसका अपभ्रंश कोरो-मण्डल होगया। उसके उत्तरमें पेन्नार और

चोल राज्य।

दक्षिणमें वेल्लारु नदी थी। पश्चिममें यह राज्य कुर्गकी सीमातक पहुंचता था। अर्थात् इस राज्यमें मद्रास, मैसूरका बहुतसा इलाका और पूर्वीसागर तट-पर स्थित बहुतसे अन्य ब्रिटिश जिले मिले हुए थे। प्राचीनकालमें इस राज्यकी राजधानी उरईऊर (पुरानी तृचनापली) थी। और तब इसका पश्चिमके साथ बहुत विस्तृत व्यापार था। तामिल लोगोंके जहाज भारतमहासागर तथा बङ्गालकी खाड़ीमें दूर-दूर तक जाते थे।[1]

कावेरीप्पुमपट्टनम इस देशका बड़ा बंदरगाह था। चोलराजा-ओंमें प्रमुख कारिकल नामका राजा था जिसने लंकापर आक्रमण किया था और कावेरीका बांध बांधा था। इस राजाकी नाम अपेक्षा एक जिनालय भी स्थापित किया गया था, जिससे इस राजाका जैन-धर्मप्रेमी होना स्पष्ट है।[2]

पाण्ड्य और चोल राज्योंके समान ही चेर अथवा केरल राज्य था। चेर राजाओंके इतिहासमें विशेष

चेर राज्य।

उल्लेखनीय बात यह है कि उनके राज्यकालमें देहातका शासन अधि-कांशमें प्रजातन्त्र नियमोंपर चलाया जाता था, जिसका प्रभाव सारे राज्यपर पड़ा हुआ था। गांवोंमें भिन्न भिन्न सभायें प्रबन्ध और

१–कामाइ० पृष्ठ २९१–२९२। २–साइंबे०, भा० २ पृष्ठ ३८।

विचार सम्बन्धी अधिकारोंका उपयोग करती थीं ।[१] एक समय कोंगुनाडु प्रदेश भी चेर राज्यके अन्तर्गत था, जिसमें वर्तमानका कोइम्बटूर जिला, सलेमका दक्षिण-पश्चिमी भाग, त्रिचनापली जिलेका करूर तालुक और मदुरा जिलेका पलनी तालुक गर्भित था ।

कवि अरुनगिरिनाथरने कोंगु देशपर चेर अधिकारका उल्लेख किया है । वेलुकोरके शिलालेखमें कोक्कुन रवि और रवि कोट्टे नामक चेर राजाओंका उल्लेख है ।[२] प्राचीनकालमें चेर राजा अति प्रभावशाली थे और उनका सम्बन्ध उत्तर भारतके राजाओंसे था । सम्राट् श्रेणिकने एक केरल राजाकी सहायता की थी, यह पहले लिखा जा चुका है । इससे भी पहले हस्तिनापुरके कुरुराजके सहायककोंगु और कर्णाटकके राजा थे ।[३]

चेर राजत्वकालमें भी धार्मिक उदारता उल्लेखनीय थी । एक

धर्म ।

ही घरमें जैन और शैव साथ-साथ रहते थे । 'शीलप्पधिकारम' काव्यके कर्ता चेर राजकुमार इलन्गोवदिगल जैनी थे, जबकि उनके भाई सेंगुत्तुवन एक शैव थे ।[४] तो भी उस समय चेर देशके निवासियोंमें जैन धर्मका खूब ही प्रचार था । ईस्वी पहली-दूसरी शताब्दिमें कोंगु देशके पहले तीन चेर राजाओंके

१–कामाई०, पृष्ठ २९२ । २–जमीसो०, भा० २१ पृष्ठ ३९–४० ।

३–'वहि भडमोहजहनाकंधर माकचटककोरखसपव्वर ।
मलयेयन कुंग वेराडिवि गुजरगोडकाडकमाडवि ॥'
—मविसयत्तकहाए सुगमः सन्धिः ।

४–साइंज०, भा० १ पृष्ठ ४६–४७ ।

गुरु जैनाचार्य थे; बल्कि पांचवीं शताब्दि तक उस वंशके राजा गुरु जैनी ही रहे । चेर राजा कुमार इलङ्को आदिगल्के पितामह एक महावीर थे । एक युद्धमें उनकी पीठमें घातक आघात पहुंचा । उन्होंने अपना अन्त समय निकट जानकर सल्लेखना व्रत स्वीकार किया था ।

राजकुमार इलङ्गोवर्द्ध भी जैन मुनि हुये थे । कोंगु देशमें अनेक प्राचीन स्थान ऐसे हैं जिनसे प्राचीनकालमें जैन धर्मका बहु प्रचार स्पष्ट होता है । विजियमङ्गलम् नामक स्थानपर चन्द्रप्रभ तीर्थङ्करका एक जैन मंदिर है । उसमें पांचों पाण्डवोंकी तथा भगवान् ऋषभदेवकी भी मूर्तियां हैं । मंदिरके पांचवें बड़े कमरेमें पत्थरमें आदीश्वर भगवानकी जीवन घटनायें अङ्कित हैं ।[२]

इस प्रकार इन तीनों द्रविड राज्योंमें प्राचीनकालसे जैन धर्म प्रधान रहा था । इन राजवंशोंके राजत्वका क्रम यह था कि पहले चोलराज प्रधान थे; उनके बाद चेर राजाओंका प्राबल्य रहा । अन्तमें पाण्ड्यराज प्रमुख सत्ताधीश हुये । पाण्ड्योंके उपरान्त पल्लव, चालुक्यादिकी प्रधानता हुई थी, जिनका इतिहास आगे लिखा जायगा ।

द्राविड़ राजाओंके राजत्वकालमें तामिलदेशका व्यापार भी खूब उन्नतिपर रहा था । निस्सन्देह दक्षिण-भारतका व्यापार तब एक ओर उत्तरभारतसे होता था तो दूसरी ओर योरुपके देशोंसे भी

व्यापार ।

१–जैसाइं०, पृष्ठ २९–३० व गमेकु०, भा० १ पृष्ठ ३७० ।
२–बमीजो०, भा० २९ पृष्ठ ८७–९४ ।

वहांका व्यापार खूब चलता था। ऊर (Ur) जैसे प्राचीन नगरके ध्वंसावशेषोंमें जेतूनकी लकड़ी मिली है जो मलाबारसे वहां पहुंची अनुमान कीजाती है। सोना, मोती, हाथीदांत, चांवल, मिर्च मोर, लंगूर आदि वस्तुयें दक्षिणभारतकी उपज थीं जो द्राविड़ जहाजोंमें लादकर बेबिलन, मिश्र, यूनान और रोमको भेजी जाती थीं। इस व्यापारका अस्तित्व ईस्वी पूर्व ७ वीं या ८ वीं शताब्दिमें भी पहलेका प्रमाणित होता है।[1]

रोमन सिक्के तामिलनाडुमें उपलब्ध हुए हैं, जिनसे तामिल देशमें पश्चिमात्य व्यापारियोंका अस्तित्व सिद्ध होता है। उन्हें लोग 'यवन' कहते थे और इन यवनोंका उल्लेख कई तामिल काव्योंमें है। तामिलराजागण इन विदेशियोंको अपनी फौजमें भरती करते थे और उनके आत्मरक्षक भी यह होते थे। कावेरीपट्टमपट्टनममें इन यवनोंका एक उपनिवेश था।[2]

तामिलोंका रहन-सहन और दैनिक जीवन सीधा-सादा था।

संस्कृति।

उनकी पोशाक समाजमें व्यक्तिगत प्रतिष्ठा और मर्यादाके अनुसार भिन्न-भिन्न थी। मध्यश्रेणीके लोग बहुधा दो वस्त्र धारण करते थे। एक वस्त्रको वे अपने सिरसे लपेट लेते थे और दूसरेको कमरसे बांध लेते थे। सैनिकलोग वरदी पहनते थे। सरदार लोग मौसमके अनुकूल वस्त्र पहनते थे। लड़कोंकी शादी १६ वर्षकी उम्रमें और लड़कियोंकी १२ वर्षकी अवस्थामें होती थी। विवाहके लिये यही उम्र ठीक समझी जाती थी! मृत व्यक्तियोंके दाहस्थानोंपर

1—हिस्टाक्ट्रं० पृष्ठ १९८....। 2—क्वीसो० भा० १८ पृष्ठ २१३।

मंदिर और निषधि बनानेका भी रिवाज था। संग्राममें वीरगतिको प्राप्त हुये योद्धाओंकी स्मृतिस्वरूप 'वीरपाषाण' बनाये जाते थे जो 'वीरगल' कहलाते थे और उनपर लेख भी रहते थे।[1]

राजनैतिक प्रबंध। तामिल जातियोंके राजनैतिक नियम भी आदर्श थे। राजाको राज्यप्रबन्धमें सहायता करने और ठीक-ठीक व्यवस्था करानेके लिये पांच प्रकारकी सभायें थीं अर्थात् (१) मंत्रियोंकी सभा, (२) पुरोहितोंकी सभा, (३) सैनिक अधिकारियोंकी सभा, (४) राजदूतोंकी सभा और (५) गुप्तचरोंकी सभा। इन सभाओंमें कुछ सदस्य जनताके भी रहते थे। उसपर पण्डितों और सामान्य विद्वानोंको अधिकार था कि जिस समय चाहें अपनी सम्मति प्रगट करें।

उपरोक्त सभाओंमें पहली सभाका कार्य महकमे माल और दीवानीका प्रबन्ध करना था। दूसरी सभा सभी धार्मिक संस्कारोंको सम्पन्न करानेके लिये नियुक्त थी। तीसरी सभाका कर्तव्य जिसका नायक सेनापति होता था, सेनाको समुचित व्यवस्था रखना था। शेष दो सभाओंके सदस्य राजाको संधि-विग्रहादि विषयक परामर्श देते थे। गांवोंके प्रबन्धके लिये 'गांव पंचायतें' थीं। न्याय निःशुल्क दिया जाता था—आजकलकी तरह उसके लिये 'कोर्टफीस'में 'स्टाम्प' नहीं लगता था। दण्ड व्यवस्था कड़ी थी—इसी कारण अपराध भी कम होते थे।[2]

१—जमीसो० भा० १८ पृष्ठ २१४। २—कासाइ० पृष्ठ २८९ व जमीसो० भा० १८ पृष्ठ २१४—२१५।

साहित्य।

तामिल राजाओंके समयमें शिक्षाका खूब प्रचार था। स्त्रियां भी स्वतंत्रतापूर्वक विद्याध्ययन करती थीं। उनमें कई स्त्रियां अच्छी कवियत्री थीं। विद्वत्ता भी केवल उच्च वर्णके लोगों तक सीमित न थी। हरकोई अपनी बुद्धि—कौशलका प्रदर्शन कर सकता था। उच्च कोटिके साहित्यका निर्माण ठीक हो और साहित्य प्रगतिको प्रोत्साहन मिले, इसलिये एक 'संघम' नामकी सभा स्थापित थी: जिसमें उद्भट विद्वान और राजा रचनाओंकी समालोचना करके उन्हें प्रमाणता देते थे।

इस संघम्‌कालके लगभग पचास अनूठे तामिल ग्रंथ आजतक उपलब्ध हैं जो इतिहासके लिये महत्वकी चीज हैं।[1] जैनाचार्य भी इस 'संघम्' में भाग लेते थे और तामिलका आरम्भिक साहित्य अधिकांश जैनाचार्योंका ऋणी है। पाण्ड्य राजा 'पाण्डियन उग्र पेरु वलुदि' ने इस संघम सभामें उल्लेखनीय भाग लिया था। उन्हींके समक्ष तामिलका प्रसिद्ध काव्य 'कुरल' संघम्‌में उपस्थित किया गया था और स्वीकृत हुआ था। उस समय ४८ महाकवि विद्यमान थे। 'कुरल' जैनाचार्यकी रचना है, यह हम आगे प्रगट करेंगे। उस समय एक तामिल कवियित्री अनवैय्यार नामक थी। उसने राजाकी प्रशंसामें एक सुंदर रचना रची थी।[2]

तामिल राज्यमें वैदिकधर्म और बौद्धधर्मके अतिरिक्त जैनधर्म

१—लामाइ० पृष्ठ २८९—२९० व जमीसो० भा० १८ पृष्ठ २१९।
२—ममप्राजैस्मा० पृष्ठ १०९।

धर्म। भी एक प्राचीनकालसे प्रचलित था। सन् १३८ में वहां अलेक्जेन्ड्रियासे पन्टेनस नामक एक ईसाई पादरी आया था। उसने लिखा है कि वहां उसने श्रमण (जैन साधु), ब्राह्मण और बौद्ध गुरुओंको देखा था, जिनको भारतवासी खूब पूजते थे, क्योंकि उनका जीवन पवित्र था। उस समय जैनी अपने प्राचीन नाम 'श्रमण' नामसे ही प्रसिद्ध थे, यह बात संगम् ग्रंथों यथा मणिमेखले, शील-प्पधिकारम् आदिके देखनेसे स्पष्ट होजाती है।

निस्सन्देह 'श्रमण' शब्दका प्रयोग पहले पहले जैनियोंने अपने साधुओंके लिये किया था। उपरान्त बौद्धोंने भी उस शब्दको गृहण कर लिया और उनके साधु 'शाक्यपुत्रीय श्रमण' नामसे प्रसिद्ध हुए थे।[2] दक्षिणभारतके साहित्य-ग्रन्थों और शिलालेखोंमें सर्वत्र 'श्रमण' शब्दका प्रयोग जैनोंके लिये हुआ मिलता है। श्रमण और श्रमणो-पासक लोगोंकी संख्या वहां प्राचीनकालमें अत्यधिक थी।

१–बजेस्मा० पृष्ठ १४२।

२–"The Jainas used the term 'Sramana' prior to the Buddhists is also conclusively proved by the fact that the latter styled themselves 'Sakyaputtiya' Sramanas as distinguished from the already existing Nigganth Sramanas."
—Buddist India p. 143.

दक्षिण भारतका जैन-संघ।

जैन-संघकी प्राचीनता और उसका स्वरूप।

जैनियोंमें संघ-परम्परा अति प्राचीन है। जैन शास्त्रोंसे पता चलता है कि आदि तीर्थंकर ऋषभदेवके समयमें ही उसका जन्म होगया था। ऋषभदेवके संघमें मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका, सम्मेलित थे। वह संघ विभिन्न गणोंमें विभाजित था, यह बात इससे प्रमाणित है कि शास्त्रोंमें ऋषभदेवके ८४ गणधरोंका उल्लेख है[1] परन्तु उन गणोंमें परस्पर कोई धार्मिक भेद नहीं था। उनका पृथक् अस्तित्व केवल संघ व्यवस्थाकी सुविधाके लिये था। जैन संघकी यह व्यवस्था, मालूम होता है भगवान महावीरके समय तक अक्षुण्ण रूपमें चली आई थी, क्योंकि जैन एवं बौद्ध ग्रन्थोंसे यह प्रगट है कि भगवान महावीरका अपना

१–ऋषभदेवके ८४ गणधरोंका अस्तित्व सभी जैनी मानते हैं। देखो जैसं०, भा० २ पृ० ८१। २–भसू०................न मम० पृष्ठ ११३–१२१। ३–बौद्धग्रन्थ 'दीघनिकाय' में भ० महावीरके विषयमें एक उल्लेख निम्नप्रकार है:–

"अयम् देव निगंठो नातपुत्तो संघी चेव गणी च गणाचार्यो च ञातो यसस्सी, तित्थकरो साधु सम्मतो बहुजनस्स रत्तस्सु चिरपब्बजितो अद्धगतो वयोअनुपत्तो ॥" (भा० १ पृ०४८–४९)।

इस उल्लेखमें निर्ग्रंथ ज्ञातपुत्र (भ० महावीर) को संघका नेता और गणाचार्य लिखा है, जिससे स्पष्ट है कि भ० महावीरका संघ था और उसमें गण भी थे।

संघ था जो कई गणोंमें विभक्त था। इन्द्रभूति गौतम आदि ग्यारह गणधर इन गणोंकी सार संभाल करते थे। किन्तु प्रश्न यह है कि इस प्राचीन संघका बाह्य भेष और क्रियायें क्या थीं? खेद है कि इस प्रश्नका पूर्ण और यथार्थ उत्तर देना एक प्रकारसे असंभव है, क्योंकि ऐसे कोई भी साधन उपलब्ध नहीं हैं जिनसे उस प्राचीन कालका प्रामाणिक और पूर्ण परिचय प्राप्त होसके। परन्तु तौभी स्वयं दिगम्बर[1] एवं श्वेताम्बर[2] जैन शास्त्रों और ब्राह्मण[3] एवं बौद्ध ग्रन्थों[4] तथा भारतीय पुरातत्वसे[5] यह स्पष्ट है कि प्राचीन—भगवान

१–महापुराण, उत्तरपुराण, तथा मूलाचारादि ग्रन्थ देखिये।

२–'कल्पसूत्र' में लिखा है कि भ० ऋषभदेव उपरान्त यथा-जात-नग्नभेषमें रहे थे और यही बात भ० महावीरके विषयमें उस ग्रन्थमें लिखी हुई है।

३–'भागवत' में ऋषभदेवको दिगम्बर साधु लिखा है। (ममo पृष्ठ ३८) जाबालोपनिषद् आदि इतर उपनिषदोंमें 'यथाजातरूपधर निर्ग्रन्थ' साधुओंका उल्लेख है। (दिमु० पृ० ७८) ऋग्वेद (१०।१३६), वराहमिहिर संहिता (१९।६१) आदिमें भी जैन मुनियोंको नग्न लिखा है।

४–महावग्ग ८,१५;३।१,३८;१६, चुल्लवग्ग ८,२८,३, संयुत्तनिकाय २,३,१०,७. जातकमाला (S. B. B. I) पृ० १४, दिव्यावदान पृ० १६५, विशाखावत्थु-धम्म-पदट्ठ-कथा (P. T. S., Vol. I) भा० २ पृ० ३८४ इत्यादिमें जैन मुनियोंको नग्न लिखा है।

५–मोहनजोदड़ोके सर्व प्राचीन पुरातत्वमें श्री ऋषभदेव जैसी बैल चिन्हयुक्त खड्गासन नग्न मूर्तियां मुद्राओंपर अंकित हैं (भारि० अगस्त १९३२) मौर्यकालकी प्राचीन मूर्तियां नग्न ही हैं (जैसिभा० भा० ३ पृ० १७)।

महावीरसे भी प्राचीन-जैन-संघके साधु नग्न-यथाजातरूपमें रहते थे-वह अनोद्देशिक भोजन दिनमें एकबार करते थे-निमंत्रण स्वीकार नहीं करते थे-जनोपकारमें तल्लीन रहते थे। बसतीसे बहुत दूर एकांतवास करते थे।[1] श्रावक और श्राविकायें उनकी भक्ति-वंदना करते थे। उनमेंसे प्रमुख महापुरुषोंकी वे मूर्तियां और निषिधिकायें बनाकर उनकी भी पूजा किया करते थे। भ० महावीरके संघके व्रती श्रावक श्वेत वस्त्र पहना करते थे।[2] साधारणतः प्राचीन जैन संघकी यह रूपरेखा थी।

दक्षिण भारतीय जैन संघ।

दक्षिण भारतमें आदि तीर्थंकर ऋषभदेव द्वारा ही जैनधर्मका प्रचार होगया था। यह पहले लिखा जा चुका है। और चूंकि ऋषभदेव स्वयं दिगम्बर भेषमें रहे थे, इसलिये दक्षिण भारतीय जैन संघके साधुगण भी उन्हींकी तरह नग्न भेषमें विचरते थे। दक्षिण भारतकी प्राचीन मूर्तियोंसे यही प्रगट है कि उस समयके जैन साधुगण नग्न रहते थे।[3] वे साधुगण अपने प्राचीन नाम 'श्रमण' से प्रसिद्ध थे और जैन संघ 'निर्ग्रन्थ-संघ' कहलाता था।[4] तामिलके प्राचीन काव्योंसे स्पष्ट है कि उनके रचनाकालमें दिगम्बर जैन धर्म ही दक्षिण भारतमें प्रचलित था। विद्वानोंका मत है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य्यके गुरु श्रुतकेवली भद्र-

१-ममबु० पृ० ६१-६९। २-ममबु० पृ० ६०-६१। ३-ममैस्मा० पृष्ठ १९, ४१, ९२, ६१, ६९, ७४ व १०७; कप० भूमिका व चित्र देखो। ४-साइंवे पृ० ४७ व जैसाइं० पृ० ४०।

बाहुजीके साथ ही जैन धर्मका प्रवेश दक्षिण भारतमें हुआ; परन्तु जैन मान्यताके अनुसार दक्षिण भारतका जैन संघ इतना ही प्राचीन था, जितना कि उत्तर भारतका जैन संघ था। यही वजह थी कि उत्तरमें अकाल पड़ने पर धर्मरक्षाके भावसे भद्रबाहु स्वामी अपने संघको लेकर दक्षिण भारतको चले आये थे। उनका ही संघ ऐतिहासिक रूपमें दक्षिणका पहला दिगम्बर जैन संघ प्रमाणित होता है। इसके पहले और कौन-कौन जैन संघ थे, इसका पता लगाना इस समय दुष्कर है। यह संघ मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविकारूप चारों अङ्गोंमें बंटा हुआ सुव्यवस्थित था। द्राविड़ लोगोंमें इसकी खूब ही मान्यता थी।[1] विद्वानोंका मत है कि द्राविड़ लोग प्रायः नाग-जातिके वंशज थे। जिस समय नागराजाओंका शासनाधिकार दक्षिण भारतपर था, उस समय नागलोगोंके बहुतसे रीति-रिवाज और संस्कार द्राविड़ोंमें घर कर गये थे। नागपूजा उनमें बहु प्रचलित थी। जैन तीर्थंकरोंमें दो सुपार्श्व और पार्श्वकी मूर्तियां नागमूर्तियोंका

१-"The fact that the Jaina community had a perfect organisation behind it shows that it was not only popular but that it had taken deep root in the soil. The whole community, we learn from the epics, was divided into two sections, the Sravakas or laymen and the Munis or ascetics. The privilege of entering the monastery was not denied to women and both men and women took vows of celibacy."

—SJJ. P. 42.

साहश्य रहती थीं और जैनोंकी पूजाप्रणाली भी अति सरल थी। द्राविड़ोंने उसको सहजमें ही अपना लिया था। जैनोंकी चरण-चिह्न पूजा और निषधि स्थापन प्रथाका भी उन लोगोंपर असर पड़ा था।[1] परिणाम स्वरूप इस प्राचीन कालमें जैनी उपरान्त ई० छठी सातवीं शताब्दिमें कहीं ज्यादा सम्मान्य और प्रतिष्ठित थे।

तामिल महाकाव्योंसे तत्कालीन जैन संघकी क्रियाओंका ठीक परिचय मिलता है। उनसे प्रगट है कि

जैन संघकी रूपरेखा। निर्ग्रन्थ साधुगण ग्रामों और नगरोंके बाहर पल्लियों या विहारोंमें रहते थे, जो शीतल छायासे युक्त और लाल रंगसे पुती हुई ऊंची दीवालोंसे वेष्टित थे। उनके आगे छोटे-छोटे बगीचे भी होते थे। उनके मंदिर तिराहों और चौराहों पर बने होते थे। उनके आगे फ्लैट-फार्म बने हुये थे जिन परसे वह धर्मोपदेश दिया करते थे। उन विहारोंके साथ साथ ही आर्यिकाओंके विश्राम भी हुआ करते थे;* जिनसे प्रगट है कि तामिल स्त्री समाजपर जैनी आर्यिकाओंका काफी प्रभाव था। चोलोंकी राजधानी कावेरीपुमपट्टिनम्, तथा कावेरी तटपर स्थित उरइयुरमें उल्लेखनीय बस्तियां और विहार थे। मदुरा जैन संघका केन्द्र था[2]। वहां सन्निकट गुफाओंमें जैन

१-साइंजै पृ० ४८-४९; अंसाइं पृ० १२८....। *-उपाध्यायोंके शिक्षालयों और आर्यिकाओंके विश्रामोंका उल्लेख शास्त्रोंमें भी है। (कपु० कथ०) २-साइंजै०, भा० १ पृ० ४७।

मुनियोंके आवासका पता चलता है।[1] वे मुनिगण दिगम्बर मूर्तियोंकी वंदना करते थे, यह बात उन गुफाओंमें मिली हुई प्रतिमाओंसे स्पष्ट है। तामिल काव्योंसे प्रगट है कि तबके जैनी अर्हत् भगवानकी भव्य मूर्तिकी पूजा किया करते थे। वह मूर्ति अकसर तीन छत्रोंसे और अशोक वृक्षसे मंडित पद्मासन हुआ करती थी। ये जैनी दिगम्बर थे, यह उनके वर्णनसे स्पष्ट है तथा वे राज्यमान्य भी थे।[2]

जैन सिद्धांत।

"मणिमेखलै" काव्यसे जैन सिद्धांतके उस समय प्रचलित रूपका भी दिग्दर्शन होता है।[3] उसमें लिखा है कि "मनिमेखलाने निगंट (निर्ग्रन्थ) से पूछा कि तुम्हारे देव कौन हैं और तुम्हारे धर्मशास्त्रोंमें क्या लिखा है? उसने यह भी पूछा कि लोकमें पदार्थोंकी उत्पत्ति और विनाश किस तरह होता है? उत्तरमें निगंटने बताया कि उनके देव इन्द्रोंद्वारा पूज्य हैं और उनके बताये हुये धर्मशास्त्रोंमें इन विषयोंका विवेचन है। धर्म, अधर्म, काल, आकाश, जीव, शाश्वत परमाणु, पुण्य, पाप, इनके द्वारा रचित कर्मबंध और इस कर्मबंधसे मुक्त होनेका मार्ग। पदार्थ अपने ही स्वभावसे अथवा पर पदार्थोंके संयोगवर्ती प्रभावानुसार अनित्य अथवा नित्य हैं। एक क्षणमात्रके समयमें उनकी तीनों दशायें—

१–मबंप्राजैस्मा०, पृ० १०७। २–साइंजै०, भा० १ पृ० ४८।
"That these Jains were the Digambaras is clearly seen from their description."–SIJ. P. 48
३–साइंजै०, भा० १ पृ० ९०–९१।

उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य होता रहता है। हरे चनको और चांदीके साथ मिलाकर पिटई बनाली गई परन्तु चनेका स्वभाव वहां नष्ट नहीं हुआ, यद्यपि उसका रूप बदल गया! धर्मद्रव्य हर ठौर है और वह प्रत्येक वस्तुको व्यवस्थित गतिमें हमेशा चलानेमें कारण है। इसी तरह अधर्मद्रव्य प्रत्येक पदार्थको स्थिर रखनेमें कारण है और सर्व विनाशको रोकता है। काल क्षणवर्ती और सागरोपम भी है। आकाश सब पदार्थोंको स्थान देता है। जीव एक शरीरमें प्रवेश करके पांच इन्द्रियों द्वारा चखता, सूंघता, छूता, सुनता और देखता है। एक अणु शरीररूप अथवा अन्यरूप (अनेक परमाणुओंसे मिलकर) हो जाता है। पुण्य और पापमई कर्मोंके आनेको रोकना, संचित कर्मोंका परिणाम भुगता देना और सर्व बन्धनोंसे मुक्त होजाना मोक्ष है।" जैनसिद्धांतका यह रूप ठीक वैसा ही है जैसा कि आज वह मिल रहा है।

श्वेताम्बर जैनी। अच्छा तो, यहां तकके विवेचनसे यह स्पष्ट है कि दक्षिण भारतमें दिगम्बर जैनधर्म ही प्राचीनकालसे प्रचलित था और उसकी मान्यता भी जनसमुदायमें विशेष थी। किन्तु प्रश्न यह है कि श्वेताम्बर सम्प्रदायके जैनी दक्षिणभारतमें कब पहुंचे? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये जैन संघके इन दोनों सम्प्रदायोंका उत्पत्तिकाल हमें स्मरण रखना चाहिए। यह सर्वमान्य है कि जैनसंघमें भेदकी जड़ मौर्यकालमें ही पड़ गई थी। उत्तरभारतमें रहे हुये संघमें शिथिलाचार प्रवेश कर गया था और उस संघके साधुओंने वस्त्र

पहनना भी आरम्भ कर दिया था। किन्तु जब प्राचीन भद्रबाहु संघके नग्न साधुगण वहांमें आये तो आपसमें संघर्ष उपस्थित हुआ। समझौतेके प्रयत्न हुये परन्तु समझौता न हुआ। दुष्कालमें शिथिलाचारको प्राप्त हुये साधुओंने अपनी मान्यताओंका पोषण करना प्रारम्भ कर दिया। शुरूमें उन्होंने एक खंडवस्त्र ही लज्जा निवारणके लिये धारण किया—वैसे वह रहे प्राचीन नग्नवेषमें ही।

मथुराके पुरातत्वमें कण्ह नामक एक मुनि अपने हाथपर एक खण्डवस्त्र लटकाये हुये नग्न भेषको छुपाते एक आयागपटमें दर्शाये गये हैं।[1] धीरे धीरे जैसे समय बढ़ता गया वह मतभेद और भी दृढ़ होगया और आखिर ईस्वी पहली शताब्दिमें जैन संघमें दिगम्बर और श्वेताम्बर भेद बिल्कुल स्पष्ट होगये।[2] यही कारण है कि दक्षिण भारतके प्राचीन साहित्य और पुरातत्वमें हमें श्वेताम्बर संप्रदायका उल्लेख नहीं मिलता है। कहा जाता है कि मौर्य सम्राट् सम्प्रतिने दक्षिण भारतमें जैनधर्मका प्रचार कराया था; परन्तु यह नहीं कहा जासक्ता कि उस धर्मका रूप क्या था? हमारे ख्यालसे वह वही होना चाहिये जो उपरोक्त तामिल काव्यमें चित्रित किया गया है। यदि वह धर्म तामिल काव्योंमें वर्णित धर्मसे भिन्न था, तो कहना होगा कि सम्प्रति द्वारा भेजे गये धर्मोपदेशकोंको दक्षिणमें सफलता नहीं मिली थी। श्वेताम्बरीय शास्त्रोंसे प्रगट है कि कालकाचार्य पैठनके राजाके गुरु थे; जिसका अर्थ यह होता है कि वह आन्ध्र देशतक पहुंचे

१–जैस्तूप० पृष्ठ २४-प्लेट नं० १७। २–संजैइ०, भा० २ खंड २ पृ० ७९–७८।

थे। उपरान्त ईस्वी पहली दूसरी शताब्दिमें श्वेताम्बरीय पादलिप्ता-चार्य मलखेड़तक पहुंचे थे; किन्तु यह नहीं कहा जासकता कि वह अपना मत फैलानेमें कहांतक सफल हुये थे। ईस्वी पांचवीं शताब्दिके एक ताम्रपत्रके लेखमें पहले पहले श्वेताम्बर जैन संघका उल्लेख मिलता है।[1] परन्तु इसके बाद फिर उनका कोई उल्लेख नहीं मिलता।

श्रीधरसेनाचार्य और श्रुत-उद्धार।

श्री भद्रबाहु श्रुतकेवलीके बहुप्रसिद्ध संघके उपरांत शास्त्रोंमें दक्षिण पथके उस दिगम्बर जैन-संघका पता चलता है, जो श्रीधरसेनाचार्यजीके समयमें महिमा नगरीमें संमिलित हुआ था। यह नगरी वर्तमान सतारा जिलेका 'महिमानगढ़' नामक गांव प्रगट होता है। इस संघने परामर्श करके आंध्रदेशस्थ वेण्यातट नगरसे दो सद्ज्ञान-पारगामी एवं तीक्ष्णबुद्धिके धारक मुनि पुंगवोंको श्रीधरसेनाचार्यजीके निकट श्रुत अध्ययनके लिये भेजा था। श्रीधरसेनाचार्य उस समय सौराष्ट्र प्रसिद्ध नगर गिरिनगरके निकट चंद्रगुफामें विराजमान थे। उपरोक्त दोनों शिष्योंके नाम उन्होंने क्रमशः भूतबलि और पुष्पदंत रक्खे थे और उन्होंने उनको 'महाकर्मप्रकृतिप्राभृत' नामक ग्रन्थ भी पढ़ा दिया था। उपरांत श्रीधरसेनाचार्यजीने उन दोनों आचार्योंको विदा किया, जिन्होंने अंकलेश्वर (भरोंच जिला) में जाकर वर्षाकाल व्यतीत किया।

१—जैहि० भा० १४ पृ० २२४।

वर्षायोगको समाप्त करके तथा जिनपालितको देखकर पुष्पदंताचार्य वनवास देशको चले गये और भूतबलिजी द्रामिल (द्राविड़) देशको प्रस्थान कर गये। इसके बाद पुष्पदंताचार्यने जिनपालितकोदी क्षा देकर, बीस सूत्रों (विंशति प्ररूपणात्मक सूत्रों) की रचना कर और वे सूत्र जिनपालितको पढ़ाकर उसे भगवान भूतबलिके पास भेजा। उन्होंने जिनपालितके उन बीस सूत्रोंको देखा और उसे अल्पायु जानकर श्रुतरक्षाक भावसे उन्होंने 'षट् खण्डागम' नामक ग्रंथकी रचना की।[१] इस समय श्री भूतबलि आचार्य संभवतः दक्षिण मदुरामें विराजमान थे।[२] 'इस तरह इस षट्खण्डागमश्रुतके मूल मंत्रकार श्री वर्द्धमान महावीर, अनुतंत्रकार गौतमस्वामी और उपतंत्रकार भूतबलि-पुष्पदन्तादि आचार्योंको समझना चाहिये।'

उन्होंने दक्षिण भारतके प्रधान नगरोंमें रहकर श्रुतज्ञानकी रक्षा की थी। दक्षिणमें ही श्री गुणधराचार्यने 'कसाय पाहुड' नामक ग्रन्थमहार्णवका सार खींच कर प्रवचन वात्सल्यका परिचय दिया था। ये सूत्रगाथायें आचार्य-परम्परासे चलकर आर्यमंक्षु और नागहस्ती नामके आचार्योंको प्राप्त हुई थीं और उन दोनों आचार्योंसे इन गाथाओंका भले प्रकार अर्थ सुनकर यतिवृषभाचार्यने उन पर चूर्णिसूत्रोंकी रचना की, जिनकी संख्या छह हजार श्लोक-परिमाण है।[३] उपरोक्त दोनों सूत्रग्रन्थोंको लेकर ही उन पर 'धवला' और 'जयधवला' नामक टीकायें रची गई थीं। इसप्रकार दक्षिण भार-

१-जैसिभा०, ३ किरण ४ पृष्ठ १२७-१२८। २-श्रुतावतार कथा, पृष्ठ २० व संजैइ० भा० २ खंड २ पृष्ठ ७२। ३-जैसिभा, भा० ३ किरण ४ पृष्ठ १३१।

सके जैन संघ द्वारा श्रुत-ज्ञानका संरक्षण और प्रवर्तन हुआ था। ये ग्रन्थ अबतक दक्षिण भारतके मूडबिद्री नामक स्थानमें सुरक्षित हैं; परन्तु अब उनका थोड़ा बहुत प्रचार उत्तर भारतमें भी होचला है।

संघ-भेद। श्री इन्द्रनंदि कृत 'श्रुतावतार'के आधारसे यह बात हम पहले ही प्रगट कर चुके हैं कि इस घटनाके समय जैनसंघ नंदि, देव, सेन, वीर (सिंह) और भद्र नामक उपसंघोंमें विभक्त होगया था। ये विभाग श्री अर्हद्बलि आचार्य द्वारा किये गये थे, परन्तु इनमें कोई सिद्धांतभेद नहीं था। यह मात्र संघ व्यवस्थाकी सुविधाके लिये अस्तित्वमें लाये गये प्रतीत होते हैं। शिमोगा जिलेके नगरतल्लुकेमें हूमच स्थानसे प्राप्त शक सं० १,०,०, के लिखे हुये कनड़ी शिलालेख (नं० ३५) से भी स्पष्ट है कि भद्रबाहुस्वामीके बाद यहां कलिका-लका प्रवेश हुआ था और उसी समय गणभेद उत्पन्न हुआ था।[२] अर्थात् जैनसंघ कई उपसंघों या गणोंमें बँट गया था। यह इस समयकी एक विशेष घटना थी।

मूल संघ। उपरान्त श्री भद्रबाहु स्वामीकी परम्परामें अनेकानेक लोक-मान्य, ज्ञान-विज्ञान पारगामी और धर्म-प्रभावक निर्ग्रंथ आचार्य हुये थे। उनमेंसे इस कालसे सम्बन्ध रखनेवाले कतिपय आचार्योंका संक्षिप्त परिचय यहां पर दिया जाना अनुपयुक्त

१—संजैइं०, भा० १ अंक २ पृष्ठ ७२–७३।

२—"....भद्रबाहुस्वामीनिन्दिदवत्त कलिकालवर्तनेयि गणभेदं पुट्टिदुद्...."
—श्रब० जीवनी पृष्ठ १९३।

कही है। परन्तु साथ ही हमें यह भी ध्यानमें रखना चाहिये कि श्री अर्हद्बलि आचार्य द्वारा उपर्युक्त प्रकार उपसंघ स्थापना होनेपर नन्दि संघ उपरान्त संभवतः उन आचार्यकी नाम अपेक्षा 'बलात्कार-गण' के नामसे प्रसिद्ध हुआ था। कहा जाता है कि इसी समय गिरिनार पर्वत पर तीर्थकी वंदना पहले या पीछे करनेके प्रश्नको लेकर दिगम्बर और श्वेताम्बरोंमें वाद उपस्थित हुआ था। दिगम्बरोंने वहां पर स्थित 'सरस्वती देवी' की मूर्तिके मुखसे कहलवा कर अपनी प्राचीनता और महत्ता स्थापित की थी। इसी कारण उनका संघ 'मूलसंघ सरस्वती गच्छ' के नामसे प्रसिद्ध होगया था।[1] इसके बाद मूलसंघमें श्री कुंदकुंद नामके एक महान् आचार्य

१-जैहि०, भा० २० पृ० ३४२।

दिगम्बराम्नायकी इन मान्यताओंका आधार केवल मध्यकालीन पट्टावलियां हैं। इसी कारण इन मान्यताओंको पूर्णतया प्रमाणित मानना कठिन है। परन्तु साथ ही यह भी एक अति साहसका काम होगा, यदि हम इनको सर्वथा अविश्वसनीय कहें; क्योंकि इनमें जो प्राकृत गाथायें दी गई हैं वह इनकी मान्यताओंका प्राचीन पुष्ट करती है। यही कारण है कि डॉ० हॉर्नेले सा० ने भी इन पट्टावलियोंको सर्वथा अस्वीकृत नहीं किया था। यदि थोड़ी देरके लिए हम इन पट्टावलियोंकी मान्यताओंको कपोलकल्पित घोषित करदें, तो फिर वह कौनसे प्रमाण और साधन होंगे जिनके आधारसे हम 'मूलसंघ, सरस्वतीगच्छ, बलात्कारगण, कुन्दकुन्दान्वय' आदि सम्बन्धी विवरण उपस्थित कर सकेंगे! इसलिये हमारे विचारसे इन पट्टावलियोंको हमें उस समय तक अवश्य मान्य करना चाहिये जबतक कि उनका वर्णन अन्य प्रबल प्रमाणोंसे मिथ्या न होजाय।

हुये थे। उन्होंने संघमें नवजीवन डाला था। इसीलिये मूल-संघी साधुगण अपनेको 'कुन्दकुन्दान्वयी' घोषित करनेमें गौरवका अनुभव आज पर्यंत करते आये हैं। यह बात भगवान कुन्दकुंदस्वामीके व्यक्तित्वकी महानताको प्रगट करनेके लिये पर्याप्त है। ऐसे आचार्यप्रवरका संक्षिप्त परिचय पाठकोंको अवश्य रुचिकर होगा,-आइये, उनकी एक झांकी यहां ले देखें।

भ० कुन्दकुन्दाचार्य।

आज जैन-संघमें अंतिम तीर्थंकर भ० महावीर वर्द्धमान और गणधर गौतमस्वामीके उपरांत भगवान कुन्दकुन्दको ही स्मरण करनेकी परिपाटी प्रचलित है[1] जिससे कुंदकुंदस्वामीके आसनकी उच्चता स्पष्ट होती है। शिलालेखोंमें उनका नाम कोण्डकुंद लिखा मिलता है, जिसका उद्गम द्राविड़ भाषासे है। उसीका श्रुतिमधुररूप संस्कृत साहित्यमें कुंदकुंद प्रचलित है।[2] कहते हैं कि इन आचार्यप्रवरका यथार्थ नाम पद्मनंदि था, परन्तु वह कुंदकुंद, वक्रग्रीव, एलाचार्य और गृद्धपिच्छ नामोंसे भी प्रसिद्ध थे।[3] वह कुंडकुंद नामक स्थानके अधिवासी थे, इसी कारण वह

१-"मंगलं भगवान् वीरो, मंगलम् गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दाद्यः, जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥"

२-जैन शिलालेखसंग्रह (मा० ग्रं०) भूमिका देखो।

३-एका० मा० २ नं० ६४, ६६; इंऐ० मा० २३ पृष्ठ १२६। वक्रग्रीव और गृद्धपिच्छ नामके दूसरे आचार्य मिलते हैं। इसलिये कुन्दकुन्दस्वामीके ये दोनों नाम विद्वानों द्वारा अस्वीकृत हैं। इसी तरह उनका विदेह-गमन भी संदिग्ध दृष्टिसे देखा जाता है।

कोण्डकुंदाचार्य नामसे प्रसिद्ध हुए थे। 'बोधपाभृत' में कुन्दकुन्द-स्वामीने अपनेको श्री भद्रबाहुस्वामीका शिष्य लिखा है।[1] 'पुण्याश्रव कथा' ग्रंथसे स्पष्ट है कि दक्षिण भारतके पिदथनाडु प्रांतमें कुरुमरय नामक गांव था, जिसमें करमुण्ड नामक एक मालदार सेठ रहता था। उसकी पत्नी श्रीमती थी। उन्हींके कोखसे भगवान् कोण्ड-कुन्दका जन्म हुआ था। वह जन्मसे अतिशय क्षयोपशमको लिये हुये था। और युवा होते होते वह एक प्रकाण्ड पण्डित होगये थे। कोण्डकुन्दका गृहस्थ जीवन कैसा रहा यह कुछ ज्ञात नहीं; परन्तु मुनिदीक्षा लेनेपर वह पद्मनन्दि नामसे प्रसिद्ध हुये थे—आचार्य रूपमें यही उनका यथार्थ नाम था। पद्मनन्दि स्वामी महान् ज्ञान-वान थे—उस समय उनकी समकोटिका कोई भी विद्वान् न था। विदेहस्थ श्रीमंधरस्वामीके समवशरणमें उनको सर्वश्रेष्ठ साधु घोषित किया गया था और वह स्वयं विदेह देशको श्रीमंधरस्वामीकी वंदना करके ज्ञान प्राप्त करने गये थे। शिवकुमार नामक कोई नृप उनके शिष्य थे।[1] उन्होंने भारतमें जैन धर्मका खूब ही उद्योत किया था। उनका समय ईस्वी प्रथम शताब्दिके लगभग था। द्राविड संघसे भी उनका सम्बन्ध था। आखिर वह दक्षिणके ही नर रत्न थे। कहते हैं कि उन्होंने ८४ पाहुड़ ग्रंथोंकी रचना की थी; परन्तु

विशेषके लिये प्रो॰ ए॰ एन॰ उपाध्ये द्वारा सम्पादित "प्रवचनसार" की अंग्रेजी भूमिका तथा पं॰ जुगलकिशोरजी मुख्तारकी उसकी समालोचना (जैसिभा॰ भा॰ ३ पृ॰ ९३) देखना चाहिए।

१-प्रो॰ चक्रवर्तीने इन्हें पल्लववंशके शिवस्कन्धकुमार नृप बताया है। —प्रसा॰ भूमिका पृ॰ २०।

इस समय उनके रचे हुए निम्नलिखित ग्रंथ मिलते हैं—

(१) दशभक्ति, (२) दंसणपाहुड, (३) चारित्तपाहुड, (४) सुत्तपाहुड, (५) बोधपाहुड, (६) भावपाहुड (७) मोक्खपाहुड, (८) लिंगपाहुड, (९) शीलपाहुड (१०) रयणसार, (११) बारस-अणुवेक्खा, (१२) नियमसार, (१३) पञ्चास्तिकायसार, (१४) समयसार, (१५) प्रवचनसार।

कुरल। श्री कुन्दकुन्दाचार्यके उपरोक्त सब ही ग्रन्थ प्राकृत भाषामें रचे गये थे और दिगम्बर जैन संघके लिये एक अमूल्य निधि हैं। किन्तु इन आचार्यने तामिलभाषामें भी ग्रन्थरचना की थी, किन्तु खेद है कि इस समय उनकी कोई भी तामिल-रचना उपलब्ध नहीं है। अलबत्ता तामिलके अपूर्व नीतिग्रंथ 'कुरल' के विषयमें कहा जाता है कि वह श्री कुन्दकुन्दाचार्यकी ही रचना है। तामिल लोग इस ग्रन्थको अपना 'वेद' मानते हैं और वह है भी सर्वमान्य। शैव, वैष्णव, जैन, बौद्ध—सब ही उसकी शिक्षासे प्रभावित हुये थे और सब ही उसे अपना पवित्र ग्रन्थ प्रगट करते हैं; परन्तु विद्वानोंने गहरी शोधके पश्चात् उसे श्री कुन्दकुन्दस्वामीकी ही रचना ठहराया है।[१] जैन ग्रन्थ 'नीलकेसी' के टीकाकार उसे जैन ग्रंथ ही प्रगट करते हैं।[२] उसपर 'कुरल'में निम्नलिखित ऐसी बातें हैं जो उसे सर्वथा

१—साइंजै०, भा० १ पृ० ४०—४३। "Kural was certainly composed by a Jain."—Prof. M. S. Ramaswami Iyengar, SIJ., I 89.

२—'नीलकेसीटीका'में उसे 'इम्मोत्तु' अर्थात् 'हमारा वेद' कहा है।

एक जैनाचार्यकी ही रचना प्रमाणित करते हैं;—

(१) कुरलमें (परिच्छेद १) पहले ही मंगलस्तुति रूपमें 'अ' वर्णका स्मरण करते हुये उसे शब्दलोकका मूल स्थान और आदि-ब्रह्मको लोकोंका मूल स्रोत कहा है, जो जैन मान्यताके अनुकूल है। जैन शास्त्रोंमें 'अ' वर्णका धार्मिक और सांकेतिक महत्व खूब ही प्रतिपादित किया गया है। 'ज्ञानार्णव' में 'अ' वर्णको ७०० बार जपना एक उपवासके तुल्य बताया है। (वृजैश० भा० १ पृ० १-२)

(२) पहले परिच्छेदमें उपरान्त एक सर्वज्ञ परमेश्वर जिसने कमलों पर गमन किया (मलर्मिसइयेगिनान) और जो आदि पुरुष है तथा जो न किसीसे प्रेम करता है और न घृणा एवं जो जितेन्द्रिय है, उसकी वंदना करनेका विधान है। जैन ग्रन्थोंमें आप्तके जो लक्षण बताये गये हैं उनमें उसे सर्वज्ञ—रागद्वेष रहित और वीतराग खास रीतिसे बताया गया है।[१] इस कल्पकालमें आदितीर्थंकर, आदिनाथ या ऋषभदेव मुख्य आप्त हैं; इसी लिये शास्त्रोंमें उन्हें आदि पुरुष भी कहा गया है।[२] 'कुरल' के रचयिता भी उन्हींका स्मरण करते हैं। वह सर्वज्ञ तीर्थंकर रूपमें जब विहार करते थे तब देवेंद्र उनके पग तले कमलोंकी रचना करता जाता था। और वह उसपर गमन करते थे।[३] यह विशेषता जैन तीर्थंकरकी खास है। 'कुरल'के कर्ता उसका उल्लेख करके अपना मत स्पष्ट कर देते हैं।

(३) आगे इसी परिच्छेदमें 'कुरल' के रचयिता अर्हन्त या

१–Divinity in Jainism देखो। २–जिनसहस्र नाम देखो। ३–आदि० पर्व २३–२५।

तीर्थंकर भगवानका स्मरण करके सिद्ध परमात्माका स्मरण करते हैं और उन्हें अष्टगुणोंसे अभिभूत परब्रह्म (ऐन्गु-नाथन्) बताते हैं। जैन ग्रंथोंमें परमब्रह्म सिद्ध परमात्माको निम्नलिखित अष्टगुणोंसे युक्त बतलाया गया है:-(१) क्षायिक सम्यक्त्व, (२) अनंतदर्शन, (३) अनन्तज्ञान, (४) अनन्तवीर्य, (५) सूक्ष्मत्व, (६) अवगाहनत्व, (७) अगुरुलघुत्व, (८) अव्याबाधत्व।[1] अन्यत्र परमात्माके यह आठ गुण शायद ही मिलें।

(४) तीसरे परिच्छेदमें संसारत्यागी पुरुषोंकी महिमाका वर्णन है। उसमें उनको सर्वस्वका त्यागी और पांचों इन्द्रियोंको वशमें रखकर तापसिक जीवन व्यतीत करनेवाला लिखा है। इन्द्रियविषय क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध बताये हैं। साथ ही साधु प्रकृति पुरुषोंहीको ब्राह्मण कहा है। जैनधर्ममें साधु सर्वस्वत्यागी, इन्द्रियनिरोधी तपस्वी कहा गया है। इन्द्रियोंकी संख्या और उनके विषय भी जैन मान्यतानुसार हैं।[2] खास बात यह है कि ऐसा साधु जैन दृष्टिसे एक सच्चा ब्राह्मण है। "कुरल" में यही प्रगट किया गया है।

(४) चौथे परिच्छेदमें धर्मका फल मोक्ष और धर्म अपने मनको पवित्र रखनेमें बताया है। उससे आगामी जन्मोंका मार्ग बन्द होजाता है। 'भावपाहुड' में श्री कुन्दकुन्दाचार्यने इसी प्रकार मन शुद्धिका विधान किया है। जैन सिद्धांतमें पुण्य-पापका माप मनुष्यके भावोंसे ही किया जाता है।

१-मूलाचार, भा० १ पृ० ९४। २ मूलाचार भा० १ पृ० ९७।

(६) पांचवें परिच्छेदमें गृहस्थ जीवनके लिये देवपूजा, अतिथि-सत्कार, बन्धु-बांधवोंकी सहायता और आत्मोन्नति करना आवश्यक बताया है। भगवत् कुंदकुंदस्वामीने भी देवपूजा करना और दान देना तथा आत्मोन्नति करना एक गृहस्थके लिये मुख्य कर्म बताये हैं।

(७) नवें परिच्छेदमें अतिथिको भोजन देने और मेहमानदारीका विधान है। जैन शास्त्रोंमें गृहस्थके लिये एक अलग 'अतिथि संविभाग' व्रत है।

(८) उन्नीसवें परिच्छेदके अंतिम पदमें 'कुरल' मनुष्यको निज दोषोंकी आलोचना करनेका उपदेश देता है। जैनधर्ममें प्रत्येक गृहस्थके लिये प्रतिक्रमण-दोषोंके लिये आलोचनादि करना लाजमी है।

(९) बीसवें परिच्छेदमें छायाकी तरह पाप-कर्मोंको मनुष्यके साथ लगा रहते और सर्वस्व नाश करते बताया है; जो सर्वथा जैन मान्यताके अनुकूल है। मरने पर भी जन्मान्तरों तक पाप कर्म मृतात्मासे लिप्त रहकर उसको कष्टका कारण बनते हैं, यह जैन मान्यता सर्वविदित है।

(१०) पचीसवें परिच्छेदमें जैन शास्त्रोंके सदृश ही निरामिष भोजनका उपदेश है। यदि कुरलका रचयिता जैन न होकर वैदिक ब्राह्मण अथवा बौद्ध होता तो वह इस प्रकार सर्वथा मांस-मदिरा त्याग करनेका उपदेश नहीं दे सकता था; क्योंकि उन लोगोंमें इनका सर्वथा निषेध नहीं है।[२]

१-तत्वार्थाधिगम सूत्र। २-अम० व०, पृ० १२-१७।

(११) तीसवें परिच्छेदमें अहिंसाको सब धर्मोंमें श्रेष्ट कहा है और उसके बाद सत्यको बताया है। जैन दर्शनमें भी अहिंसाकी यही विशेषता है। इसी परिच्छेदमें बलिहिंसाका भी निषेध है।

(१२) बत्तीसवें परिच्छेदमें त्यागका उपदेश देते हुये मुमुक्षुको अपने पास कुछ भी न रखनेका विधान है-उसके लिए तो यह शरीर भी अनावश्यक है। जैनधर्म भी तो यही कहता है।

(१३) अस्सीवें परिच्छेदमें कहा गया है कि उच्च कुलमें जन्म लेनेसे ही कोई उच्च सज्जन नहीं होजाता और जन्मसे नीच होनेपर भी जो नीच नहीं है वह नीच नहीं होसकते। जैन शास्त्रोंमें पद-पद पर यही उपदेश भरा मिलता है।[1] भगवत् कुन्दकुन्द-स्वामीने भी इसी बातका उपदेश दिया है।[2]

यह एवं ऐसी ही अन्य बातें इस बातको प्रमाणित करती हैं कि 'कुरल' के रचयिता एक जैनाचार्य थे, जिन्हें विद्वज्जन श्री कुन्दकुन्दाचार्य बताते हैं। इस प्रकार भगवत् कुन्दकुन्दके पवित्र जीवनकी रूपरेखा है।

भ० उमास्वाति।

उनके पश्चात् जैन संघमें भगवान् उमास्वातिका विशाल और विशुद्ध अस्तित्व मिलता है, जिस प्रकार भगवान् कुन्दकुन्दकी मान्यता दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों

१-पतितोद्धारक जैनधर्म देखो।

२-णवि देहो वंदिज्जइ णवि य कुलो णवि यजाइ संजुत्तो।
को वंदिय गुणहीणो ण हु सवणा णेय सावओ होइ ॥२७॥

सम्प्रदायोंके लोगोंमें थी, उसी प्रकार भगवान् उमास्वाति भी दोनों सम्प्रदायों द्वारा मान्य और पूज्य थे। दिगम्बर जैन साहित्यमें उन्हें भगवान् कुन्दकुंदका वंशज प्रगट किया गया है और उनका दूसरा नाम गृद्धपिच्छाचार्य भी लिखा है।[1] किन्तु उनके गृहस्थ जीवनके विषयमें दिगम्बर शास्त्र मौन हैं। हां, श्वेतांबरीय 'तत्वार्थाधिगम सूत्र भाष्य' में उमास्वाति महाराजके विषयमें जो प्रशस्ति मिलती है, उससे पता चलता है कि उनका जन्म न्यग्रोधिका नामक स्थानमें हुआ था और उनके पिता स्वाति और माता वात्सी थीं। उनका गोत्र कौभीषणि था। उनके दीक्षागुरु श्रमण घोषनंदि और विद्यागुरु वाचकाचार्य मूल नामक थे। उन्होंने कुसुमपुर नामक स्थानमें अपना प्रसिद्ध ग्रंथ 'तत्वार्थाधिगम सूत्र' रचा था।[2] दोनों ही संप्रदायोंमें उमास्वातिको 'वाचक' पदवीसे अलंकृत किया गया है।[3] श्वेतांबरोंकी मान्यता है कि उन्होंने पांचसौ ग्रंथ रचे थे और

१–स्वा० स्वामी समन्तभद्र पृष्ठ १४४ एवं 'श्लोकवार्तिक' का निम्न कथन—

"एतेन गृद्धपिच्छाचार्यपर्यन्तमुनिसूत्रेण।
व्यभिचारिता निरस्ता प्रकृतसूत्रे॥"

भ० कुंदकुंदका भी एक नाम गृद्धपिच्छाचार्य था। शायद यही कारण है कि श्रवणबेलगोलके किन्हीं शिलालेखोंमें भ० कुंदकुंद और भ० उमास्वातिको एक ही व्यक्ति गलतीसे लिख दिया है। (इका० भा० २ पृ० १६)। २–अनेकान्त, वर्ष १ पृष्ठ [illegible]।

३–पूर्व० पृ० २९४–२९५ पर "[illegible]" का निम्न श्लोक:—

यह इस समय तत्त्वार्थाधिगम सूत्रके अतिरिक्त 'जम्बूद्वीप समास प्रकरण श्रावक प्रज्ञप्ति, क्षेत्रविचार, प्रशमरति और पूजा प्रकरण' नामक ग्रंथोंको उनकी रचना बताते हैं, परन्तु विद्वज्जन केवल 'प्रशमरति' को स० उमास्वातिकी रचना होना शक्य समझते हैं।[1] इसमें शक नहीं कि स० उमास्वाति अपने समयके अद्वितीय विद्वान् थे। उन्होंने जैन आगममें प्रसिद्ध सैद्धान्तिक एवं खगोल भूगोल आदि सब ही विषयोंका संक्षिप्त संग्रह अपने 'तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में' कर दिया है, यही कारण है कि उनका यह ग्रन्थराज आज "जैन बाइबिल" के नामसे प्रसिद्ध है। यह संस्कृत भाषामें जैनोंकी सबसे पहली उल्लेखनीय रचना है। इसकी उत्पत्तिके विषयमें कहा जाता[2] है कि सौराष्ट्रके गिरिनगर (जूनागढ़ नामक स्थान) में आसन्न भव्य द्विज कुलोत्पन्न, श्वेताम्बरभक्त एक 'सिद्धय्य' नामका विद्वान् श्रावक रहता था। उसने 'दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' यह एक सूत्र रचा और उसे पाटियेपर लिख छोड़ा। एक समय चर्याके श्री गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वाति नाम धारक आचार्य वहां आये। उन्होंने वह सूत्र देखकर उसमें 'सम्यक्' शब्द जोड़ दिया। 'सिद्धय्य' ने जब यह देखा तो वह उन आचार्यके पीछे भागा और उन्हें ढूंढ़कर उनसे उस 'मोक्षशास्त्र' को रचनेके लिये प्रार्थी हुआ। आचार्य

" पुष्पदन्तो भूतबलिः जिनचंद्रो मुनिः पुनः।
कुन्दकुन्दमुनीन्द्रोमास्वातिवाचकसंज्ञितौ॥"

(अनेकान्त पृ० ४०६ फुटनोट)

१—अनेकान्त, वर्ष १ पृ० ३९४।

२—'तत्त्वार्थदीपिका' —अनेकान्त वर्ष १ पृ० २७०।

महाराजने उनकी यह प्रार्थना स्वीकार की और 'तत्वार्थाधिगम सूत्र' को रच दिया। 'सिद्धय्य' के निमित्तसे इस ग्रंथराजके रचे जानेका उल्लेख संभवतः 'सर्वार्थसिद्धि' टीका में भी है।[1] निस्सन्देह सिद्धय्यके निमित्तसे रचा हुआ यह ग्रन्थराज जैनसिद्धांतकी अमूल्य निधि है। यही कारण है कि उपरान्त जैनाचार्योंने भ० उमास्वातिका स्मरण बड़े ही सम्माननीय रीतिसे किया और उन्हें 'श्रुतकेवलि देशीय' एवं 'गुणगंभीर' भी लिखा।[2] श्रुतसागरजीने उनका श्रुतिमधुर नाम उमास्वामी रख दिया और तबसे दिगम्बरोंमें उसीका प्रचार होगया; परन्तु प्राचीन दिगम्बर जैन ग्रंथोंमें उनका नाम उमास्वाति मिलता है। भ० उमास्वाति संभवतः श्री कुन्दकुन्दाचार्यके प्रशिष्य थे। इसलिये एवं उनकी सैद्धांतिक विवेचनाशैलीसे, जिसका साम्य योगसूत्र' आदिसे है, स्पष्ट है कि वह ईस्वी पहली शताब्दिके विद्वान् थे।[3]

श्री समन्तभद्र-स्वामी।

समयानुकूल भ० उमास्वातिके पश्चात् उल्लेखनीय आचार्य श्री समंतभद्रस्वामी हैं। दिगम्बर विद्वानोंके लिये वह स्तवनार्ह और प्रमाणभूत हैं ही परन्तु श्वेताम्बर विद्वानोंने भी उनकी प्रमाणिकताको खुले दिलसे स्वीकार

१–अनेकान्त, वर्ष १ पृ० १९७।
२–तत्त्वार्थसूत्रकर्त्तारमुमास्वातिमुनीश्वरं।
श्रुतकेवलिदेशीयं वन्देऽहं गुणमंदिरम्॥ अनेकान्त पृ० १९९
३–अनेकान्त, पृ० २६९। ४–पूर्व० पृष्ठ ३८९–३९२।

सानन्द अपनी जठराग्नि शान्त की और मंदिरके बाहर आ राजाको आशीर्वाद दिया। राजा प्रसन्न हुआ और प्रतिदिन सवा मनका प्रसाद शिवार्पणके लिये भेजने लगा। समन्तभद्रजी उसके द्वारा अपनी व्याधिको शमन करते रहे; किन्तु जब व्याधि और कम हुआ तो उस प्रसादमेंसे कुछ बचने लगा। उधर कुछ लोग उनके विरुद्ध हो रहे थे उन्होंने पता लगाकर राजसे शिकायत कर दी कि महाराज, यह साधु शिवजीको कुछ भी प्रसाद अर्पण नहीं करता, बल्कि सब कुछ स्वयं खा जाता है और शिवलिङ्ग पर पैर पसार कर सोता है। राजाके विस्मय और रोषका ठिकाना न रहा। उसने शिवालयमें आकर समंतभद्रजीसे यह आग्रह किया कि वह प्रसाद शिवजीको उनके सामने खिलावें और शिवलिङ्गको प्रणाम भी करें।

समंतभद्रजीके लिये यह परीक्षाका समय था; क्योंकि उन्होंने आपत्तिकालमें वैष्णव-साधुका भेष अवश्य धारण किया था परन्तु हृदयमें वह दृढ़ सम्यक्त्वी थे। उनके रोमरोममें जैनत्व समाया हुआ था। आखिर उन्होंने दृढ़तापूर्वक राजाकी आज्ञाको शिरोधार्य किया। धारा प्रवाहरूपमें उन्होंने 'स्वयंभूस्तोत्र'की रचना और उच्चारण करना प्रारम्भ किया। जिस समय वह चन्द्रप्रभ भगवानका स्तोत्र पढ़ रहे थे, उसी समय शिवलिङ्गमेंसे चन्द्रप्रभकी मूर्ति प्रगट हुई। इस अद्भुत घटनाको देखकर सब ही लोग आश्चर्यचकित होगये। राजा शिवकोटि अपने छोटे भाई शिवायन सहित उनके चरणोंमें गिर पड़ा और जैनधर्ममें दीक्षित हुआ। उसके साथ उसकी प्रजाका बहुभाग भी जैनी होगया था। अब समंतभद्रजीका रोग शांत होगया था। उन्होंने अपने गुरुजीके पास जाकर प्रायश्चित्तपूर्वक पुनः दीक्षा ग्रहण की और वह धर्म

प्रचार एवं लोकहितके कार्यमें निरत होगए। उन्होंने घोर तप तथा तथा ज्ञान ध्यान द्वारा अपार शक्तिको संचय किया था। फलतः वह आचार्य हुये और लोग उन्हें जिनशासनका प्रणेता कहने लगे थे।

जैन सिद्धांतके मर्मज्ञ होनेके सिवाय वह तर्क, व्याकरण, छंद, अलंकार, काव्य, कोषादि ग्रंथोंमें पूर्ण निष्णात थे। वह संस्कृत, प्राकृत, कनड़ी, तामिल आदि भाषाओंके विद्वान थे. परन्तु उनके द्वारा दक्षिण भारतमें संस्कृत भाषाको जो प्रोत्तेजन और प्रोत्साहन मिला था वह अपूर्व था। उनकी वादशक्ति अप्रतिहत थी। उन्होंने कई बार नंगे पैरों और नंगे बदन देशके इस छोरसे उस छोरतक घूमकर मिथ्यावादियोंका गर्व खंडित किया था। वह महान् योगी थे और उनको 'चारण ऋद्धि' प्राप्त थी, जिसके कारण वह अन्य जीवोंको बाधा पहुंचाये बिना ही सैकड़ों कोसोंकी यात्रा शीघ्रतासे कर लेते थे। एकबार वह करहाटक नगर (जिला सतारा) में पहुंचे थे और वहांके राजापर अपने वाद प्रयोजनको प्रगट करते हुए उन्होंने कहा था कि:—

'पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता,
पश्चान्मालवसिन्धुटक्कविषये कांचीपुरीवैदिशे।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं,
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितं ॥'

इससे प्रकट है कि करहाटक पहुंचनेसे पहले समंतभद्रने जिन देशों तथा नगरोंमें वादके लिये विहार किया था उनमें पाटलिपुत्र नगर, मालव, सिंधु, ठक्क (पंजाब) देश, कांचीपुर और वैदिश थे

प्रधान देश तथा जनपद थे। इनमें उन्होंने वाद करके धर्मप्रभावनाका प्रचार किया था। अपनी लोकहितकारी वाक्गिरा द्वारा उन्होंने प्राणीमात्रका हित साधा था। केवल वाणीसे ही नहीं बल्कि अपनी लेखनी द्वारा भी उन्होंने अपनी लोकहितैषिणी वृत्तिका परिचय दिया है। उनकी निम्नलिखित अपूर्व रचनायें बताई जाती हैं:-

१-आप्तमीमांसा, २-युक्त्यनुशासन, ३-स्वयंभूस्तोत्र, ४-जिनस्तुति शतक, ५-रत्नकरंड उपासकाध्ययन, ६-जीवसिद्धि, ७-तत्वानुशासन, ८-प्राकृत व्याकरण, ९-प्रमाणपदार्थ, १०-कर्मप्राभृत टीका और ११-गन्धहस्तिमहाभाष्य।

खेद है कि स्वामी समंतभद्रजीके अंतिम जीवनका ठीक पता नहीं चलता। पट्टावलियोंसे उनका अस्तित्व समय सन् १३८ ई० प्रगट होता है। मम० श्री नरसिंहाचार्यजीने भी उन्हें ईस्वी दूसरी शताब्दिका विद्वान् इस अपेक्षा बताया है कि श्रवणबेल्गोलकी मल्लिषेणप्रशस्तिमें उनका उल्लेख गङ्गराज संस्थापक सिंहनंदि आचार्यसे पहले हुआ है, जिनका समय ई० दूसरी शताब्दिका अंतिम भाग है। इसी परसे स्वामी समंतभद्रजीकी जन्म और निधन तिथियोंका अंदाज लगाया जासकता है।[1]

इस प्रकार तत्कालीन दक्षिण भारतीय जैन संघके यह चमकते हुये रत्न थे। इनके अतिरिक्त श्री पुष्पदन्त, भूतबलि, माघनन्दि आदि आचार्य भी उल्लेखनीय हैं; परन्तु उनके विषयमें कुछ अधिक परिचय प्राप्त नहीं है।

१-विशेषके लिये श्री जुगलकिशोरजी मुख्तार कृत "स्वामी समन्तभद्र" और "वीर" वर्ष ६ का "समन्तभद्रांक" देखो।